आलोचनादर्श

आलोचना-कला का मार्मिक शास्त्रीय विवेचन

लेखक

श्री पं० रामशङ्कर शुक्ल "रसाल" एम० ए०

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

१९३८

मूल्य १।≈)

Printed and published by
K. Mittra, at The Indian Press, Ltd.,
ALLAHABAD

समर्पण

परम माननीय श्रद्धास्पद महामना

श्री पंडित मदनमोहनजी मालवीय

के

करकमलों में सादर समर्पित

विनीत

रामशङ्कर शुक्ल "रसाल"

अनुक्रमणिका

——

आलोचनादर्श

अर्थ और परिभाषा

आलोचना शब्द संस्कृत के लुच् धातु से बनता है, लुच् का अर्थ है देखना। इस धातु के आगे ल्यु प्रत्यय होता है, क्योंकि यह धातु नन्द आदि धातु-समूह के अन्तर्गत है।*

इस ल्यु में से आदि के ल् का लोप हो जाता है।† और केवल 'यु' शेष रहता है, जिसके स्थान पर 'अन्' आदेश होता है।‡ और इस आदेश के प्रभाव से धातु की उपधा (प्रथम स्वर) का गुण होकर 'लोच्' बनता है जो 'अन' से मिलकर लोचन शब्द के रूप में आ जाता है, जिसका अर्थ होता है देखनेवाला अर्थात् नेत्र। अब इसी के पूर्व 'आङ्' उपसर्ग, ("आङ् मर्यादाऽभिविधौ") जिसका अर्थ होता है अभिविधि या मर्यादा-सूचक, आता है, जिसके

* "नन्दग्रहपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः"।

† "लशक्वतद्धिते" "तस्य लोपः।"

‡ "युवोरनाकौ"।

"ङ्" का लोप होकर अवशिष्ट 'आ' का लोचन से संयोग होता है और "आलोचन" बनता है। इसी के पूर्व में तो 'सम्' उपसर्ग और अन्त में 'टाप्' प्रत्यय के करने से "समालोचना" शब्द प्राप्त होता है, जिसका अर्थ है:—सब प्रकार से विधि-पूर्वक किसी वस्तु के देखने की व्यवस्था।

अस्तु आलोचना या समालोचना के उक्त अर्थ को ध्यान में रखते हुए कह सकते हैं कि आलोचना या समालोचना किसी वस्तु के सम्यक् प्रकार से देखने की एक विशेष व्यवस्था या विधि है।

किसी भी वस्तु को ध्यानपूर्वक देखने में हम उसके रूप-रङ्ग, आकार-प्रकार, गुण, कर्म, स्वभाव एवं प्रभावादि का पृथक्-पृथक् अवलोकन करते हैं, और उन पर विचार करते हैं। उसके अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों पटलों का यथोचित निरीक्षण करके उसके सम्बन्ध में अपना मत भी निश्चित करते हैं। ऐसा करते हुए हम उसकी दशाओं, अवस्थाओं, एवं उपयोगिता आदि से सम्बन्ध रखनेवाली बातों आदि पर भी यथेष्ट रूप में विचार करते हैं। ऐसा ही करने पर हमें उस वस्तु का पूर्ण ज्ञान और अनुभव प्राप्त होता है और हम उसकी विशेषताओं से परिचित हो जाते हैं। यहीं हमारा आलोचन या अवलोकन समाप्त होता है।

अस्तु कह सकते हैं कि किसी वस्तु की आलोचना या समालोचना करने से यह तात्पर्य्य है कि उस वस्तु का साङ्गोपाङ्ग

निरीक्षण किया जाय और उसकी बाह्याभ्यन्तरिक समस्त बातों पर विचार करके एक निश्चित मत स्थिर किया जाय; साथ ही उस वस्तु के ज्ञानानुभव का ऐसा निरूपण किया जाय कि उस वस्तु का पूरा परिचय उन सभी व्यक्तियों को मिल जाय, जो उस निरूपण का अवलोकन करें।

प्रत्येक वस्तु को देखकर हमारे मन में सबसे प्रथम उस वस्तु के सम्बन्ध में यही भावना उठती है कि वह रुचिर और रोचक है अथवा नहीं। हम उसकी अच्छाइयों और बुराइयों की तत्काल खोज करने लगते हैं, उसके बाह्य एवं आभ्यन्तरिक गुणों तथा दोषों पर दृष्टिपात करते हुए हम उनका विश्लेषण करने लगते हैं और उसी आधार पर फिर अपना निर्णय प्रकट करने लगते हैं। ऐसा करने से पूर्व हमारे लिए उस वस्तु का यथेष्ट ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त करना अनिवार्य सा ही होता है। अर्थात् हमारे लिए यह जानना आवश्यक होता है कि वह वस्तु वास्तव में क्या है, क्यों है, कैसी है, तथा किसलिए है। उसकी उत्पत्ति कब, कैसे, क्यों और किससे हुई है, उसके गुण, कर्म, स्वभाव क्या हैं, उसमें कहाँ तक उपयोगिता है, हमसे उसका क्या सम्बन्ध है, उसका कहाँ तक कैसा, किस पर प्रभाव पड़ता है, इत्यादि बातों का जानना हमारी जिज्ञासा की शांति के लिए आवश्यक हो जाता है। जब हमें इन सबका यथोचित ज्ञान प्राप्त हो जाता है तभी हम उस वस्तु का मानों आलोचन कर चुकते हैं। इस आलोचन

के उपरान्त ही हम उस वस्तु के विषय में अपना निर्णय या मत प्रकट कर सकते हैं। कभी कभी हमें उस वस्तु की तुलना भी उससे सादृश्यासादृश्य रखनेवाली किसी अन्य वस्तु से करनी पड़ती है, और अपना मत स्थिर करना पड़ता है।

इस प्रकार विचार करने से ज्ञात होता है कि समालोचना से तात्पर्य न केवल किसी वस्तु या विषय के समवलोकन से ही है वरन् उस विषय या वस्तु के सम्बन्ध में तन्निरीक्षणोपरान्त अपने निर्णय के देने से भी है। अतएव समालोचक न केवल एक साधारण निरीक्षक ही है वरन् एक निर्णायक भी है।

जब समालोचना में तुलना का भी सामंजस्य कर दिया जाता है तब उसका रूप तुलनात्मक हो जाता है। तुलना करने में न्यूनता, अधिकता एवं समता का भी ध्यान रक्खा जाता है। इस प्रकार इसमें समालोचना-कार्य मापन-कला के रूप में भी परिणत हो जाता है और समालोचक किसी एक निश्चित मापक-विधान के आधार पर आलोच्य विषय या वस्तु के सम्बन्ध में अपना निर्णय प्रकट करता है।

किसी सौन्दर्य-पूर्ण वस्तु या विषय के गुणों अथवा उसके मूल्य का निर्धारित करना और उनके सम्बन्ध में अपना निर्णय देना समालोचना का मुख्य उद्देश्य या तात्पर्य है। किसी सुन्दर, सत्य, तथा सौख्यप्रद ज्ञान या विचार-समूह के जानने और दूसरों पर सुबोधता, स्पष्टता, तथा सरलता के साथ

उसे प्रकट करते हुए निष्पक्षभाव से प्रचलित करने का प्रयत्न करना आलोचक का प्रमुख कर्तव्य-कर्म हो जाता है। इस व्यापक अर्थ के अतिरिक्त समालोचना का कुछ संकीर्ण अर्थ भी होता है, जिसके अनुसार किसी साहित्यिक रचना की आलोचना से तात्पर्य होता है उस रचना के गुणों, दोषों और विशेषताओं के उस सुव्यक्त या प्रकाशित विश्लेषण से, जो स्वतंत्र रूप से स्वयमेव एक विशेष प्रकार का पठनीय साहित्याङ्ग होकर तर्कनाशक्ति को प्रौढ़, विवेक-बुद्धि को विकसित और बोधवृत्त या समझने की प्रतिभा को तीव्र करता है। साथ ही जो गुण-दोषों का विश्लेषण करके उनके आधार पर निर्णय करने की योग्यता या क्षमता को बढ़ाता है।

कभी कभी आलोचना शब्द का प्रयोग छिद्रान्वेषण (Picking holes) या दोषों की खोजकर उनके आधार पर निन्दा या उपहास करने के अर्थ में भी किया जाता है। किन्तु वास्तव में समालोचना शब्द के अर्थ-क्षेत्र में इस प्रकार का कोई भी भाव नहीं है। दोष-प्रदर्शन का भाव तो इसके अन्तर्गत है अवश्य किन्तु साथ ही गुण-प्रदर्शन और तदाधार पर प्रशंसा करने का ही भाव प्रधान और प्रबल है। मुख्य लक्ष्य समालोचना का केवल आलोच्य वस्तु के सुखद सौंदर्य और उसकी रोचक विशेषताओं का प्रकट करना ही है। यह सदा उपयुक्तता और उपादेयता की ओर अग्रसर होती है। रुचिरता और रोचकता की ही खोज करना तथा उन्हें पाकर

स्पष्टतया प्रदर्शित करना ही इसका प्रधान उद्देश्य है। इसी लिए दूषणीय तथा निन्दनीय बातों के खोजने का प्रयत्न करना आलोचन-कार्य की सीमा से बाहर है।

उदार दानशीलता (शब्दों में) के साथ प्रशंसा-पुरस्कार देते हुए प्रोत्साहन देना अथवा न्याय से परे रहकर रोष-द्वेषादि से प्रेरित होकर निन्दा करके हतोत्साह करना भी इसका अभीष्ट लक्ष्य नहीं, वरन् इसका कर्तव्योद्देश्य है पक्षपात-हीन होकर न्यायपूर्वक विचार करके अपने निर्णय या मत का प्रकट करना। अस्तु, समालोचक या सत्समालोचक साहित्यिक रचना के कला-कौशल, गुण-दोष, और उसकी विशेषताओं का निर्णायक (Judge) है। भिन्न भिन्न प्रकार की साहित्यिक रचनाओं के भिन्न भिन्न सिद्धान्तों या नियमों के प्रयोगों का निरीक्षण कर उसका निर्णय करना आलोचना का मूल मर्म माना जाता है। इसके लिए एक सत्समालोचक में विषय का वास्तविक ज्ञान, सहानुभूति, न्याय-निष्ठा, सुरुचि, भावुकता या सहृदयता, तथा शिष्टता-पूर्ण लोकानुभूति का होना आवश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य भी है।

किसी आलोच्य वस्तु को देखकर "यह सुन्दर है या यह बुरी है" केवल यही कहना आलोचक के लिए अलम् नहीं है, उसे यह भी प्रकट करना चाहिए कि वह वस्तु क्यों अच्छी और क्यों बुरी है, निष्पक्षभाव और स्वतंत्रता के साथ उसे उसकी यथोचित श्लाघा और बहुत ही सावधानी, चतुरता, तथा

सतर्कता के साथ उसकी विगर्हणा करनी चाहिए। क्योंकि द्वेषादि की प्रेरणा से व्यर्थ के लिए (अकारण ही) अनुचित आक्षेप या निन्दा करना दुर्जनों और नीचों का काम है।

अस्तु, निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि आलोचना का मूल अर्थ है निर्णय करना और आलोचक से तात्पर्य है उस सुयोग्य व्यक्ति से, जो निर्णायक के समान किसी रचना के गुणों और दोषों का यथोचित निरीक्षण तथा विश्लेषण करके उनके ही आधार पर उस रचना का निर्णय करता है। साहित्यिक या साहित्य की आलोचना का अर्थ है किसी साहित्यिक रचना का उसके गुण-दोषादि के आधार पर निर्णय करना, रचना-कला की कसौटी पर उसे कसकर परखना और उसमें साहित्य के लक्षणों की चरितार्थता देखना।

समालोचना-साहित्य या आलोचनात्मक साहित्य से तात्पर्य है साहित्य या साहित्यिक क्षमता-पूर्ण उस रचना से, जिसमें किसी साहित्यिक रचना-कला के कौशल अथवा किसी कवि या लेखक की कृति के निर्णयात्मक रूप से अध्ययन करने का आकार-प्रकार दिखलाया गया हो, उसकी मार्मिक विवेचना और विशद व्याख्या स्पष्टता और सुबोधता के साथ की गई हो। जिसमें रचना-कला के सिद्धान्तों एवं नियमों की उपयुक्तता, उपयोगिता और प्रयोगिता (व्यावहारिकता या प्रयुक्त करने की विधि या परिपाटी) प्रकट की गई हो।

किसी साहित्यिक रचना का आलोचनात्मक विवेचन या व्याख्यात्मक अध्ययन प्राय: तीन मुख्य रूपों में पाया जाता है :—

१—विश्लेषण रूप में (गुण-दोषादि के पृथक्करण के रूप में)—इसमें किसी रचना की अच्छाइयों और बुराइयों आदि का केवल विभाजन ही किया जाता है, उसके रोचकारोचक गुण-दोष स्पष्टतया एक दूसरे से विलग कर दिये जाते हैं और उनके आधार पर निर्णय करने का कार्य पाठकों या सहृदय जनों के लिए छोड़ दिया जाता है। सुविधा के लिए कभी कभी आलोचक अपना निर्णय भी प्रकट कर देता है।

२—स्पष्टीकरण (आलोच्य रचना की वस्तु या उसमें वर्णित विषय की विवेचना या व्याख्या) के रूप में—इसमें किसी रचना को साङ्गोपाङ्ग स्पष्ट किया जाता है, उसकी समस्त गूढ़ागूढ़ (जटिल या साधारण) तथा मार्मिक ग्रन्थियों या बातों की स्पष्ट, सुबोध और सरल व्याख्या अथवा विशद विवेचना की जाती है। उस रचना की विशेषताओं पर यथेष्ट प्रकाश डाला जाता है, चाहे वे विशेषतायें उसकी भाषा, शैली या रचना-कला से सम्बन्ध रखती हों या उसके विषय से। इस प्रकार आलोचक उस रचना को जैसा स्वत: समझता है ठीक उसी प्रकार वह वैसा ही अपनी उस आलोचनात्मक विवेचना में दूसरों के भी समझाने का पूर्ण प्रयत्न करता है। इसी के साथ वह पाठकों को उस रचना के उस प्रभाव से भी ठीक उसी

प्रकार प्रभाविक करने की चेष्टा करता है जिस प्रभाव से जिस प्रकार वह स्वयमेव प्रभावित हुआ है। कभी-कभी वह ऐसा नहीं भी करता और पाठकों के ही लिए रचना के प्रभाव का निर्णय करना छोड़ देता है।

३—मूल्य निर्धारण या निर्णय के रूप में—इसमें आलोच्य रचना का साङ्गोपाङ्ग निरीक्षण या अवलोकन करते हुए उसके गुण-दोषादि पर प्रकाश डालकर आलोचक उस रचना का साहित्य में स्थान या (उसके रचयिता का भी साहित्यिक कवियों या लेखकों की भिन्न-भिन्न कोटियों में स्थान या पद) मूल्य दिखाता और उसकी योग्यता निर्धारित करता है। कभी कभी वह उस रचना (और उसके रचयिता) की उसी के सदृश अन्य रचनाओं (और रचयिताओं) से तुलना भी करता है और तदनन्तर उसकी श्रेणी का निर्णय करता है।

कभी कभी इन तीनों रूपों का एक मिश्रित रूप भी देखा जाता है, जिसे संकर या मिश्रित रूप कह सकते हैं।

यदि साहित्य को मानव-जीवन, प्रकृति और कला की ज्ञानानुभूति का भिन्न भिन्न रूपों* में विवेचन या चित्रण कहें और उसे इन सबका स्पष्टीकरण या प्रकाशन ही मान लें तो आलोचनात्मक साहित्य को उस विवेचन, चित्रण या स्पष्टीकरण का

* काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, गद्यकाव्य और आलोचनादि साहित्य के विविध रूप हैं।

व्याख्यात्मक निर्णय और प्रदर्शन कह सकते हैं। इसी के साथ यहाँ यह भी कह सकते हैं कि यदि देश और समाज के लिए ऐसे साहित्य की अनिवार्य रूप से आवश्यकता है तो उसी के साथ उस साहित्य के ऐसे निर्णयात्मक विवेचनपूर्ण स्पष्टीकरण से बने हुए आलोचनात्मक साहित्य की भी आवश्यकता है। दोनों ही अपनी अपनी स्वतंत्र सत्ता और महत्ता रखते हैं, दोनों एक प्रकार से सहगामी होते हुए अन्योन्याश्रित से हैं और दोनों ही की उपयुक्तता और उपयोगिता निर्विवाद है।

समालोचना शास्त्र है या कला ?

स्थूल रूप से ज्ञान के दो रूप होते हैं—१—शास्त्र या विद्या, २—कला। दोनों में अपनी अपनी विशेष महत्ता है और इसी लिये दोनों की अपनी अपनी स्वतंत्र सत्ता भी है। यह अवश्य है कि दोनों का एक दूसरे से बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है, यहाँ तक कि दोनों एक दूसरे पर निर्भर अथवा आधारित-से जान पड़ते हैं। वास्तव में यदि देखा जाय तो दोनों में सहकारिता, सहयोगिता, एवं साहचर्य सम्बन्ध प्रतीत होता है। प्राय: दोनों अन्योन्याश्रय सम्बन्ध भी रखते हुए जान पड़ते हैं। तात्पर्य यह है कि बिना कला के शास्त्र की और बिना शास्त्र के कला की सत्ता ही सिद्ध नहीं होती।

शास्त्र या विद्या का मुख्य उद्देश्य है किसी विषय के मूल नियमों, सिद्धान्तों या विधानों की खोज करना तथा उन्हें वैज्ञानिक रूप देकर स्थिर करना। कला का प्रधान लक्ष्य, इसके विपरीत, किसी विषय को नियमानुसार कार्य में परिणत करना है। अस्तु, कह सकते हैं कि यदि शास्त्र या विद्या का रूप सैद्धान्तिक है तो कला का प्रयोगात्मक है।

शास्त्र किसी विषय को नियमबद्ध करने में उसके गुण, कर्म, स्वभाव के भिन्न भिन्न समस्त स्वरूपों का निरीक्षण करता

हुआ, संश्लेषण-विश्लेषण की पद्धतियों के द्वारा कार्य करता है और उसके मुख्य नियम निकालकर प्रयोगों के द्वारा उनकी परीक्षा कर उन्हें पुष्ट करता है। इस प्रकार उसे प्रयोगों अर्थात् कला के मूल तत्त्वों का भी आश्रय लेना पड़ता है। इसके साथ ही कहना चाहिए कि कला को भी शास्त्र का आश्रय लेना पड़ता है, अर्थात् अपने विषय को क्रियात्मक रूप देने या उसे कार्य में परिणत करने के लिए उसे उस विषय के निश्चित नियमों के अनुसार कार्य करना पड़ता है। इसी विचार से दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध माना जाता है।

हाँ इन दोनों के पौर्वापर्य का निश्चय आज तक नहीं किया जा सका, और इस विषय में बहुत मत-भेद है। कोई विद्वान् तो शास्त्र को और कोई कला को प्रथम मानता है। अब दोनों में साहचर्य-सम्बन्ध का होना ही विद्वानों ने स्थिर-सा कर लिया है।

अब यदि इस जटिल तथा विवाद-ग्रस्त विषय को इस प्रकार निश्चित-सा मान कर समालोचना की ओर ध्यान देते हैं तो ज्ञात होता है कि समालोचना में दोनों के रूप उपस्थित हैं और दोनों ही के तत्त्व इसमें न्यूनाधिक रूप से पाये जाते हैं। समालोचना शास्त्रीय कार्य से भी सम्बन्ध रखती है और कलात्मक कार्य से भी, अर्थात् इसमें दोनों ही प्रकार का कार्य किया जाता है।

शास्त्रीय रूप में तो यह उन नियमों की गवेषणा करती है जिनके आधार पर आलोचना का कार्य किया जाना चाहिए और जिनके परिपालन से ही आलोचना में यथार्थता, सत्यता और सुन्दरता आती है। इन नियमों की गवेषणा के उपरान्त इसका कलात्मक रूप आता है और एक आलोचक आलोचना-सम्बन्धी निश्चित नियमों को कार्य-रूप में परिणत करता हुआ किसी भी वस्तु की आलोचना करता है। यदि इस प्रकार न कहकर हम इस प्रकार कहें कि प्रथम आलोचकों (विद्वानों) के द्वारा आलोचनायें की जाती हैं और फिर उनके आधार पर आलोचना के नियमों की कल्पना की जाती है, अर्थात् प्रथम आलोचना का रूप कलात्मक रहता है फिर वह शास्त्रीय हो जाता है तो भी कोई विशेष बाधा हमारे सामने नहीं उपस्थित होती। क्योंकि दोनों ही दशाओं में यह बात रहती है कि आलोचना शास्त्रीय और कलात्मक दोनों रूपों में चलती है। यह दूसरी बात है कि इसका कार्य प्रथम शास्त्रीय रूप से चलता हुआ कहा जाये या कलात्मक रूप से। इस विवाद को दूर करने के लिए हम यहाँ केवल यही कहना उपयुक्त समझते हैं कि समालोचना में शास्त्रीय और कलात्मक दोनों रूप पाये जाते हैं।

यह स्थिर हो जाने पर कि समालोचना एक विद्या भी है और कला भी, हम अब इस बात का विचार करेंगे कि यह किस प्रकार की विद्या है और इसमें किस प्रकार के शास्त्र का

रूप रहता है। इसके पूर्व यहाँ यह बतला देना भी असंगत न होगा कि शास्त्र मुख्यतया दो अन्य अर्थों में भी लिया जाता है। १—सैद्धान्तिक—जिसमें वस्तुओं या बातों का निरीक्षण करके उनका ज्ञान प्राप्त करते हुए दूसरों को उसका बोध कराता है और एतदर्थ कुछ सिद्धान्त या नियम निश्चित करता है। २—प्रयोगात्मक (व्यावहारिक)—जिसके द्वारा हमें किसी विषय के ज्ञान का उपयोग करना ज्ञात होता है और जिसके आधार पर हम किसी विषय के सिद्धान्तों या नियमों को व्यवहार में लाते या उनका प्रयोग कर उन्हें कार्य-रूप में परिणत करते हैं। यह सदैव ही किसी न किसी सैद्धान्तिक शास्त्र पर निर्भर रहता है और उसी की सहायता से कार्य करता है। ध्यान रखना चाहिए कि कला और प्रयोगात्मक शास्त्र (विद्या) में बहुत ही सूक्ष्म और सुन्दर अन्तर है। कला का सम्बन्ध प्रयोग से ही अधिक है विज्ञान या शास्त्र से नहीं, हाँ उसके विकसित हो जाने पर भले ही उसे शास्त्रीय रूप दे दिया जावे और तब उसे कुछ शास्त्रीय तत्त्वों पर आधारित कर दिया जाये। प्रयोगात्मक विज्ञान के लिए यह बात नहीं।

इस दृष्टि से देखने पर समालोचना को हम सैद्धान्तिक और प्रयोगात्मक दोनों प्रकार का कह सकते हैं। इसका विकास प्रयोगात्मक रूप से ही होकर सैद्धान्तिक विज्ञान की ओर आया है। चूँकि आलोचन-कार्य के वे ही सब अंग

जाती है और आलोच्य रचना में एक आदर्श रचना के गुणों की खोज की जाती है तथा तदनुसार उसका निर्णय या मूल्य निर्धारित किया जाता है। यह मार्ग प्राय: निर्णयात्मक मार्ग का ही एक विशेष रूप है।

२—**तुलनात्मक** (Comparative) जिसके अनुसार आलोचना में आलोच्य रचना की किसी अन्य रचना से (जो उसी की कोटि की होती है) तुलना की जाती है और फिर विचार किया जाता है। यह भी निर्णयात्मक मार्ग का एक विशिष्ट रूप है।

३—**मनोवैज्ञानिक** (Psychological) मार्ग, जिसमें मनोविज्ञान की विशेष प्रधानता रहती है, और इसी लिए इस शैली की आलोचना में रचना को देखकर उसके अन्दर रचयिता की अन्तर्वृत्तियों या अन्त:प्रकृति की खोज या छान-बीन की जाती है। साथ ही प्रकृति (मानव या सांसारिक) के उन तत्त्वों या रहस्यों की खोज की जाती है जिनसे रचयिता प्रभावित हुआ है और जिनका निरूपण या चित्रण करके वह अपने पाठकों को प्रभावित करता है।

४—**चारित्रिक** (Ethical) रीति, जिसमें चारित्रिक नियमों या तत्त्वों की विवेचना का प्राधान्य रहता है, और आलोचक आलोच्य रचना में चरित्र-चित्रण देखकर उसमें प्रतिबिम्बित होनेवाले रचयिता के चरित्र की समीक्षा करता है, अथवा रचयिता की चरित्र-सम्बन्धी बातों को (जिन्हें वह

प्रथम ही ज्ञात कर लेता है) रचना में खोजता तथा उनके प्रभावों की व्याख्या करता है। साथ ही चरित्रशास्त्र-सम्बन्धी नियमों की चरितार्थता देखता तथा उनके विशेष रूपान्तरों की गवेषणा भी करता है। रचयिता के देश-काल (समय-समाज, सभ्यता-संस्कृति-सम्बन्धी रीति-रस्मों) का, जिनका प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी होता है, रूप भी देखता है।

५—**ऐतिहासिक** (Historical) रीति—जिसके अनुसार आलोच्य रचनाओं में राजनैतिक (Political), सामाजिक (Social), धार्मिक (Religious) आदि दशाओं और उनके प्रभावों का प्रतिबिम्ब देखा, तथा साहित्य की ऐतिहासिक रचना-परम्पराओं के साथ आलोच्य-रचना का तारतम्य मिलाया और उनमें उनका स्थान निश्चित किया जाता है। रचना के देश-काल का वर्तमान देश-काल के साथ, यदि रचना प्राचीन है, सामंजस्य या सादृश्य देखा जाता, और यदि रचना अर्वाचीन है, तो देश-काल का प्रतिबिम्ब प्रभाव-मात्र देखा जाता है। ऐसा करने के लिए रचना से केवल वही काम लिया जाता है जो ऐतिहासिक खोज में ऐतिहासिक बातों, वस्तुओं या आँकड़ों (Facts, objects and figures) से लिया जाता है। इसमें ऐतिहासिक बातों की ही खोज का प्राधान्य एवं प्राबल्य रहता है।

६—**अध्ययनात्मक** (Descriptive or Explanatory)—इसके अनुसार आलोच्य रचना के सभी अंगों पर सूक्ष्म रूप से

दृष्टिपात किया जाता और रचना के वास्तविक रूप से समझने और समझाने का प्रयत्न किया जाता है। उसके मार्मिक स्थलों का स्पष्टीकरण किया जाता और उसकी सभी विशेषताओं की विग्रह और व्याख्या की जाती है। इसे शिक्षक-शैली (Teaching method) या अध्ययन-रीति (Method of study) भी कह सकते हैं। इसमें रचना यथास्यात् तथा रूप में ही देखी-दिखाई और समझी-समझाई जाती है। इसमें विश्लेषण (Analytical) और संश्लेषण (Synthetical) दोनों मार्गों का अनुसरण किया जाता है।

७—**आध्यात्मिक** (Intuitive criticism) वास्तव में मनोवैज्ञानिक आलोचना का एक विशेष रूप ही है। इसमें आलोचक आलोच्य रचना के रचयिता की अन्तर्दृष्टि (Insight), जिसके द्वारा वह रचना-विषय या वस्तु के अन्दर पैठ और बैठकर निरीक्षण करता तथा उसके रहस्यों का चित्रण करता है, सहानुभूति (Sympathy), जिसके कारण वह रचना-वस्तु या विषय तथा प्रकृति (अन्त:प्रकृति और बाह्य प्रकृति) के साथ अपनी एकता स्थापित करते हुए उसमें अपने को तल्लीन कर लेता है और तब समस्त रहस्यों एवं मर्मों का ज्ञान प्राप्त कर उन्हें प्रकट करता है, कल्पना (Imagination), जिसके आधार पर वह अदृष्ट सृष्टि की भी रहस्यपूर्ण ललित-लीलाओं की अनुभूति प्राप्त करता तथा कराता है और एक अलौकिक क्षेत्र में विहार करता-कराता हुआ अलौकिक आनंद के

अनुभव का रस चखता-चखाता है, अभिव्यंजनक्षमता (Power to Express), जिसको प्रतिभा भी कह सकते हैं, और जिसके ही द्वारा वह अपने विविध अनुभवों आदि (Experiences, etc.) को व्यक्त करने में समर्थ होता है, आदि आन्तरिक बातों की मार्मिक छान-बीन भी की जाती है।

इन प्रमुख ढंगों के अतिरिक्त और भी कतिपय रूपान्तर एवं भेद-प्रभेद आलोचन-क्षेत्र में देखे जाते हैं किन्तु वे इन्हीं में से किसी एक या दो पर आधारित रहते हैं, अतएव यहाँ उनकी विवेचना करना एक प्रकार से अनावश्यक ही सा है, क्योंकि उनके जानने और पहिचानने में, उक्त ढंगों के जान-पहिचान लेने पर कोई विशेष कठिनाई नहीं हो सकती।

—

समालोचना का अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध

अन्यान्य विज्ञानों या शास्त्रों के समान इस समालोचना-शास्त्र को भी अन्य शास्त्रों से सहायता लेनी पड़ती है और उनसे अपना सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है। यह अवश्य है कि यह किसी शास्त्र पर पूर्ण-रूप से समाधारित नहीं कहा जा सकता। अस्तु यहाँ केवल उन्हीं मुख्य शास्त्रों या विज्ञानों का सम्बन्ध इस शास्त्र से दिखलाया जाता है जिनकी सहायता इसके लिए अनिवार्य ही सी ठहरती है। सबसे प्रथम हम यहाँ यह कह देना आवश्यक समझते हैं कि इस शास्त्र का उद्देश्य, जैसा कहा जा चुका है, सौंदर्य की खोज करना है और साथ ही यह भी देखना या विचारना है कि सौन्दर्य के साथ ही साथ आलोच्य विषय या वस्तु में कहाँ तक सत्यता (स्वाभाविकता) तथा लोकात्महितकारिता है, वह कहाँ तक मानव-प्रकृति, प्रकृति, मानवजीवन, और दृष्टादृष्ट के सत्य एवं सुखद सौंदर्य की सत्ता का मार्मिक निरूपण करता हुआ हमारे लिए आनन्दप्रद और उपयोगी है। इस उद्देश्य को यों देखने से यह स्पष्ट ही हो जाता है कि आलोचनाशास्त्र का सम्बन्ध उन सभी शास्त्रों या कलाओं से है जिनके द्वारा इसके उद्देश्य की पूर्ति हो सकती या उसमें सहायता मिल सकती है।

सौंदर्यशास्त्र

यह भी स्पष्ट ही है कि सबसे प्रथम इस शास्त्र को, सहायता लेनी पड़ती है उस शास्त्र से जिसे सौंदर्यशास्त्र की संज्ञा दी (Æsthetic Science) गई है और जो सौंदर्य की विवेचना एवं गवेषणा करता हुआ उसकी पूर्ण व्याख्या करता है। इसी शास्त्र के द्वारा यह निश्चित किया गया है कि सौंदर्य क्या है, कहाँ है, और किस प्रकार प्राप्त होता है, इत्यादि। सौंदर्य के सिद्धान्तों की भी कल्पना इसी शास्त्र में की गई है। चूँकि समालोचना का उद्देश्य सौंदर्य की खोज करना है अतएव उसका यथोचित ज्ञान प्राप्त करना भी इसके लिए अनिवार्य ठहरता है।

मनुष्य स्वभावतः ही सौंदर्योपासक और सौंदर्यप्रेमी है, सर्वत्र वह इसी सौंदर्य को ढूँढ़ता रहता है, क्योंकि सौंदर्य से उसे एक विचित्र प्रकार का आनंद का प्राप्त होता है। मानव-जीवन का लक्ष्य भी आनन्द का प्राप्त करना ही है, वह किसी भी प्रकार हो। मनुष्य की मनोवृत्तियों में से यह मनोवृत्ति बहुत ही प्रधान और प्रबल है, और इसी के कारण वह सर्वत्र सब प्रकार सब समय सौंदर्य की सृष्टि के रचने का प्रयत्न किया करता है। इसी प्रयत्न के फल-स्वरूप में ही विविध प्रकार की ललित कलाओं की उत्पत्ति हुई है और अब भी होती जाती है।

यद्यपि संसार का प्रत्येक विषय अपने अपने अनुकूल सौंदर्य का विशिष्ट रूप रखता है तथापि सबमें सौंदर्य-सम्बन्धी व्यापक सिद्धान्त समान-रूप में ही रहते हैं। सौंदर्य के व्यापक एवं स्वाभाविक तत्त्वों के ही आधार पर प्रत्येक विषय अपने सौंदर्य का रूप स्थिर करता है और उसी को अपना आदर्श बना लेता है। बस इसी आदर्श के अनुकूल उस विषय के ऐसे विविध सिद्धान्त या नियम निश्चित किये जाते हैं, जिनसे उस विषय के स्वतंत्र शास्त्र की उत्पत्ति हो जाती है और साथ ही उसके प्रयोगात्मक रूप से उस विषय से सम्बन्ध रखनेवाली एक विशिष्ट कला की भी ऐसी सृष्टि तैयार हो चलती है, जिसमें उन समस्त सिद्धान्तों (साधनों) या नियमों (विधानों) को कार्य-रूप में परिणत किया जाता है।

सौंदर्य के दो पटल ठीक उसी प्रकार हो जाते हैं जिस प्रकार इस जगत् के होते हैं, अर्थात् अन्तर्जगत्सम्बन्धी सौंदर्य और बहिर्जगत्सम्बन्धी। यों भी कहा जा सकता है कि सौंदर्य मानसिक भी होता है और शारीरिक भी। हमारी जितनी भी ज्ञानेन्द्रियाँ हैं सब अपने अपने अनुकूल सौंदर्य के भिन्न भिन्न रूप रखती हैं, और अपने अपने व्यापारों को उसी के आदर्शरूप की ओर ले चलती हैं। इसी लिए विषयों एवं व्यापारों के साथ सौंदर्य के रूपों में भी विभिन्नता तथा अनेकरूपता आ जाती है। नेत्रों के लिए सौंदर्य का

आदर्श रूप कुछ दूसरा है, कानों के लिए कुछ दूसरा, और मुख या रसना के लिए कुछ दूसरा। अस्तु, इन सबसे सम्बन्ध रखनेवाले व्यापारों एवं विषयों के भी आदर्श सौंदर्यरूप दूसरे दूसरे हो जाते हैं।

इंद्रियों के साथ ही मन (जिसे एक प्रधान ज्ञानेंद्रिय कहा गया है) भी अपने लिए एक विशिष्ट आदर्श सौंदर्य-रूप रखता है, वही मानसिक सौंदर्य माना जाता है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक इंद्रिय का सौंदर्य-रूप उसके गुण, कर्म, स्वभावादि पर ही आधारित रहता है, इन्हीं से उसकी उत्पत्ति होती है, और इन्हीं के अनुकूल उसका चित्रण या निर्माण भी किया जाता है।

बहिर्जगत् से सम्बन्ध रखनेवाले बाह्य-सौंदर्य के रूपों में भी बहिर्जगत् के विभिन्न पदार्थों के अनुकूल (या कारण) विभिन्नता या अनेकरूपता आ जाती है। बहिर्जगत् के प्रत्येक पदार्थ का एक आदर्श सुन्दर रूप माना जाता है और उसी आदर्श के साथ उस प्रकार के पदार्थों की तुलना करते हुए उसकी आलोचना की जाती है। उस आदर्श के जितना ही अनुकूल जो पदार्थ होता है उतना ही वह सुन्दर एवं सराहनीय माना जाता है।

अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् दोनों के आदर्श सौंदर्य-रूपों का बहुत गहरा सम्बन्ध है, दोनों पर एक दूसरे का पूरा प्रभाव पड़ता है, दोनों एक दूसरे से प्रतिबिम्बित एवं प्रकाशित होते

हैं और एक दूसरे की अपेक्षा सी करते हैं। दोनों का प्रायः एकीकरण भी होता है और दोनों के सामंजस्य से एक विशेष प्रकार के ऐसे आदर्श सौंदर्य की कल्पना की जाती है जो अपूर्व या अलौकिक आनन्द का अनुभव कराता है।

देश-काल और समाज के प्रभाव से भी सौंदर्य के आदर्शों में विभिन्नता, और अनेकरूपता आ जाती है। जल-वायु का पार्थक्य भी इस पर अपना पूरा प्रभाव डालता है और सौंदर्य को भिन्न भिन्न रूपों में चित्रित कराता है। समय के परिवर्तन से भी सौंदर्य के आदर्शों में परिवर्तन होता रहता है, आज से एक सहस्र वर्ष पूर्व सौंदर्य का जो आदर्श था वह आज नहीं रह गया और इसी प्रकार आज से हज़ार वर्षों के उपरान्त भी सौंदर्य का आदर्श सर्वथा भिन्न होकर दूसरा ही हो जावेगा। भारत में सौंदर्य का जो आदर्श रहा है तथा आज है वही अन्य देशों (इँगलेंड, अरब, फ़ारस, चीन आदि) में नहीं पाया जाता। इस विभिन्नता का कारण देश-देशान्तरों की प्रकृति (जल-वायु आदि)-सम्बन्धी विभिन्नता या पार्थक्य, तथा तत्प्रभावित सभ्यता-संस्कृति आदि सम्बन्धी वैलक्षण्य ही मुख्यतया होता है। देश और काल के अनुसार प्रवर्तित होनेवाले भिन्न भिन्न समाजों में भी इसी प्रकार सौंदर्य के भिन्न भिन्न आदर्श पाये जाते हैं।

संसार में इस प्रकार विभिन्न सौंदर्यादर्शों के होते हुए भी यह देखा जाता है कि अन्ततः सबके मूल में सौंदर्य

का एक ऐसा आदर्श है जो सर्वसम्मत या सर्वमान्य होता हुआ विश्वव्यापक और सर्वथा स्वाभाविक ही सा है। सौंदर्य-शास्त्र इसी व्यापक एवं सर्वमान्य स्वाभाविक सौंदर्य का, जो सर्वथा सत्य और अलौकिक आनन्द का देनेवाला है, विवेचन करता है। और इसी के अनुकूल एक स्वतंत्र आदर्श का चित्रण करता है। प्रत्येक ललित कलाकार को इसका यथोचित ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य ठहरता है। इसी प्रकार प्रत्येक सत्सालोचक को भी इससे परिचय प्राप्त करना आवश्यक होता है, क्योंकि बिना इसके वह किसी भी कला से सम्बन्ध रखनेवाली रचना का यथेष्ट मर्म ही न जान सकेगा और उसकी आलोचना भी न कर सकेगा।

रुचि-वैलक्षण्य भी सौंदर्य के आदर्शों पर अपना गहरा प्रभाव डालता है, और अपने अनुकूल सौंदर्य के विशिष्ट आदर्शों की कल्पना करता है। ऐसा करते हुए वह प्रायः स्वाभाविक तथा व्यापक सौंदर्यादर्श में अपने अनुसार विशेषतायें उत्पन्न कर लेता है। यहीं कलाकार की मौलिकता और कल्पना की विशेषता दिखलाई पड़ती है। इसी का देखना और इसी पर विचार करके अपना निर्णय देना आलोचक का कर्तव्य है।

यह सभी जानते हैं कि काव्य (साहित्य) एवं संगीत ललित कलाओं की श्रेणी में सर्वाग्रगण्य हैं। इनमें काल्पनिक और मानसिक सौंदर्यानन्द का सब कलाओं से अधिक प्राधान्य

एवं प्राचुर्य रहता है। संगीत में इसी सुखद सौंदर्य का आदर्श-रूप सुन्दर स्वरों, तालों-रागों या रागिनियों के रूपों में पाया जाता है, और काव्य या साहित्य में वही मनोमोहक रसों, रचना-चमत्कारों (अलंकारों, गुणों आदि) तथा अर्थसम्बन्धी चातुर्यों के रूपों में देखा जाता है। अस्तु, अब यह स्पष्ट हो जाता है कि समालोचक के लिए सौंदर्य-शास्त्र का यथोचित ज्ञान प्राप्त करते हुए आलोच्य वस्तु के क्षेत्र में प्रवर्तित होनेवाले सौंदर्य के विशिष्ट आदर्शों एवं उनके भिन्न भिन्न रूपों से पूर्णतया परिचित होना चाहिए।

मनोविज्ञान

हमारी मानसिक प्रवृत्तियों (मनोवृत्तियों), हमारे मनोविकारों एवं भावों (Feelings), हमारी भावनाओं (Emotions) एवं हमारे ध्यान (Attention) और भावादि (Sentiments) का प्रभाव हमारे प्रत्येक कथन, चिंतन (विचार) और व्यापार पर पड़ा करता है। यह नितान्त स्वाभाविक है कि जिस प्रकार के मनोविकार, भावादि हमारे होंगे उसी प्रकार हमारे विचार और व्यापार भी होंगे। इसी लिए हम कह सकते हैं कि प्रत्येक प्रकार की रचना में रचयिता के भावादि का पूरा प्रतिबिम्ब दिखलाई पड़ता है। उसकी शैली और विचार-धारा सभी प्रकार उक्त बातों से प्रभावित होती हुई उनकी यथार्थ प्रतिकृति-सी ही होती है। रचना में रचयिता की

आत्मा रहती है और उसकी आत्मा में भी वह रचना अपने असली रूप से व्याप्त रहती है, रचना-विषय और रचयिता दोनों एक हो जाते हैं, यही तल्लीनता या तन्मयता समालोचक की गवेषणीय तथा विचारणीय वस्तु होती है क्योंकि इसी का कार्यरूप में परिणत होना रचना का, जो आलोच्य वस्तु है, सफल उदय है।

मनोविज्ञान व्यापक और नैसर्गिक रूप से मनोवृत्तियों, भावों, भावनाओं आदि का वैज्ञानिक विवेचन करता हुआ उनके रूपों, प्रभावों एवं परिणामों आदि का पूरा परिचय देता है, उनके कार्यों और उनकी प्रगतियों का व्याख्यात्मक बोध कराता तथा उन पर यथोचित एवं सर्वांगपूर्ण प्रकाश डालता है।

प्रत्येक मनुष्य के भावों-भावनाओं आदि में भी रुचि-पार्थक्य के समान वैलक्षण्य पाया जाता है, मनोविज्ञान इसका तो विचार नहीं करता किन्तु जहाँ तक इन सबकी व्यापकता एवं स्वाभाविकता का क्षेत्र है वहाँ तक वह पूर्णरूप से इन पर विचार करता है। अस्तु मनोविज्ञान से मनोविकारों, भावों आदि के सर्वव्यापक और नैसर्गिक रूपों का—जो प्रत्येक रचना में मूलरूप से उपस्थित रहते हैं, यथेष्ट परिचय अवश्य ही प्राप्त हो जाता है। आलोच्य वस्तु या रचना के रचयिता में ये ही सब व्यापक रूप से कुछ व्यक्तिगत विशेषताओं के साथ रहते और उसकी रचना में अपने प्रतिबिम्ब छोड़ देते हैं, जिन पर

विचार करना आलोचक का मुख्य कार्य होता है। रचयिता की मनोवृत्तियों आदि की विशेषतायें खोजकर आलोचक उन्हें उनके व्यापक और स्वाभाविक रूपों से मिलाता हुआ, प्रकट करता है। अस्तु, उसे भावनाओं आदि के व्यापक और नैसर्गिक रूपों का यथोचित ज्ञान रखना अनिवार्य होता है। साहित्य या काव्य-सम्बन्धो रचनाओं में तो, जो रस-भावादि पर ही सर्वथा समाधारित रहती हैं, आलोचक को यह ज्ञान अनिवार्य रूप से ही उपयोगी ठहरता है।

अस्तु, यह स्पष्ट ही है कि आलोचक को, यदि वह किसी रचना की सत्समालोचना करना चाहता है, मनोविज्ञान का यथेष्ट परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए। यह न केवल उसे आलोच्य रचना और रचयिता के ही सब प्रकार समझने और अवलोकन करने में सहायक होगा वरन् आलोचना करते समय उसे अपने मनोविकारों आदि के भी देखने और सुधारने में काम देगा।

रस-शास्त्र (सिद्धांत) का (Theories of Sentiments or Emotions), जो वास्तव में मनोविज्ञान का एक अंशमात्र है, पूर्ण ज्ञान और अनुभव प्राप्त करना आलोचक के लिए अनिवार्य ही है। हमारे आचार्यों ने रसों की बड़ो मार्मिक, सांगोपांग, और विशद विवेचना की है, और काव्यशास्त्र का उसे एक प्रधान अंग माना है।

तर्कशास्त्र

जिस शास्त्र के पूर्ण ज्ञान की महती आवश्यकता सत्समालोचक को है वह तर्कशास्त्र है। तर्क के साथ ही आलोचक को आलोच्य वस्तु को देखना, उस पर विचार करना और अपना निर्णय प्रकाशित करना पड़ता है। आलोचना तभी सर्वाङ्ग शुद्ध, सच्ची और पुष्ट हो सकती है जब वह तर्क के नियमों की कसौटी पर कसकर कसी गई हो और उनसे सर्वथा नियन्त्रित भी हो। यह तर्कशास्त्र ही है जो हमें सही सही सोचना (Right thinking) और सही सही व्यक्त करना सिखाता है, हमारे विचारों के दोषों या विकारों को—जहाँ तक उनका सम्बन्ध विचारों के रूपों से है, दूर करता है। किसी बात को किस प्रकार प्रमाण-पुष्ट और सिद्ध करते हुए स्थापित करना चाहिए यह हमें तर्कशास्त्र से ही ज्ञात होता है।

यों तो प्रत्येक व्यक्ति में तर्कनाशक्ति न्यूनाधिक रूप में रहती है और वह उसका यथाशक्ति उपयोग भी करता है, किन्तु उस शक्ति को तर्कशास्त्र से ही पूर्ति-स्फूर्ति प्राप्त होती है, इसी के प्रभाव से वह विकसित होकर चमक उठती, बढ़ जाती और सबल होकर सफल कार्य करने लगती है। अब यह स्पष्ट है कि तर्कशास्त्र की हमारे लिए विशेष महत्ता है। समालोचक के लिए तो यह अनिवार्य रूप से हो अवलोकनीय ठहरता

है क्योंकि उसका आलोचना-कार्य इसी पर समाधारित रहता है। जब तक उसका निर्णय तर्क-प्रतिपादित और प्रमाण-पुष्ट न होगा तब तक वह मूल्य और महत्त्व से विहीन-सा रहकर सर्वमान्य न हो सकेगा।

तर्कशास्त्र के ज्ञान के बिना हमारे कथन में ऐसे दोष आ जाते हैं, और हम उन्हें जान भी नहीं पाते, कि उनके कारण अर्थ का अनर्थ ही हो जाता है। साथ ही हम दूसरे के द्वारा बहुधा बहुत कुछ बहकाये भी जा सकते हैं। अपने या दूसरे के कथन में सत्यासत्य या सदसत् का निर्णय करना वस्तुतः बिना तर्क-ज्ञान के साध्य नहीं होता।

भाषा-विज्ञान, व्याकरण और रचना-कला

भाषा का पूर्ण ज्ञान होना ही विद्वत्ता का एक प्रमुख लक्षण है। भाषा-ज्ञान सबके ही लिए न्यूनाधिक रूप से आवश्यक है, किन्तु जो साहित्य-क्षेत्र में पांडित्य के साथ कार्य करना चाहते हैं उनके लिए तो भाषा का मार्मिक ज्ञान सर्वथा अनिवार्य ही है। भाषा-ज्ञान से यही तात्पर्य नहीं कि प्रचलित भाषा के बोलने, लिखने और समझने में योग्यता या क्षमता हो वरन् अभिप्राय यह है कि भाषा के प्रयोग में पूर्ण पटुता प्राप्त होने के साथ ही साथ भाषा के क्रमिक ऐतिहासिक विकास, और उसके रूपरूपान्तरों का पूर्ण परिचय भी प्राप्त हो। उसकी भिन्न भिन्न शैलियों, उसके विविध प्रयोगों (मुहावरों) आदि

का भी पूरा ज्ञान हो। उसके साहित्य का यथेष्ट बोध हो और उसकी व्याकरण-परिपाटी तथा रचना-कला में अभीष्ट कुशलता प्राप्त हो। आलोच्य वस्तु के समझने, साहित्य से उसके सम्बन्ध के निर्धारित करने तथा उस पर विचार करके उसकी विवेचनालोचना करने में समालोचक तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक उसे भाषा, साहित्य और रचना-कला का यथेष्ट ज्ञान न हो। अस्तु कहना चाहिए कि तर्कशास्त्र की भाँति भाषा-शास्त्र (भाषा-विज्ञान, साहित्य, और रचना-कला आदि) पर भी समालोचनाशास्त्र समाधारित है। इन दोनों में साहचर्य सम्बन्ध-सा है।

आलोचना का जिन विषयों या शास्त्रों से प्रगाढ़ सम्बन्ध है, उनका संक्षिप्त उल्लेख ऊपर कर चुकने पर यहाँ यह भी कह देना उचित जान पड़ता है कि आलोचना को सहायता पहुँचानेवाले कुछ अन्य विषय और शास्त्र भी हैं। इन अन्य विषयों या शास्त्रों का भी समालोचक सत्समालोचना के लिए मुखापेक्षी रहता है। आगे हम यह दिखलायेंगे कि आलोचक को किन किन विषयों से परिचय प्राप्त करना आवश्यक ठहरता है, यहाँ केवल सूक्ष्म रूप से उनका उल्लेख करना ही समीचीन जान पड़ता है। यह तो स्पष्ट ही है कि उक्त विषयों और आलोचनकला में अनिवार्य रूप से साहचर्य सम्बन्ध है, उनके बिना आलोचन-कार्य यथेष्ट सफलता के साथ हो ही नहीं सकता।

अब कुछ ऐसे भी विषय या शास्त्र हैं जिनसे आलोचन-कार्य में प्राय: बहुत अधिक सहायता मिलती है। यह तो निर्विवाद ही-सा है कि आलोच्य वस्तु जिस विषय के अन्दर आती या जिस शास्त्र से सम्बन्ध रखती है उसका ज्ञान उस वस्तु के आलोचक को होना ही चाहिए। ऐसे विषयों या शास्त्रों को, जो आलोच्य वस्तु से सम्बन्ध रखते हुए आलोचक के लिए अनिवार्य रूप से ज्ञातव्य ठहरते हैं, छोड़कर इस विचार से कि प्रत्येक प्रकार की रचना का कुछ न कुछ सम्बन्ध अन्य कई विषयों से भी रहा करता है, यह प्रत्येक सत्समालोचक के लिए एक कर्तव्य-सा है कि वह बहुज्ञ होने का प्रयत्न करे। विस्तृत अध्ययन, सत्संग और भ्रमण आदि ज्ञानानुभव के मुख्य और प्रबल साधन हैं। यह भी आलोचक का कर्तव्य है कि वह अपने को मधुप-वृत्ति का साहित्यसेवी बनावे और साहित्य-कानन के विविध विषय-प्रसूनों के रसों का आस्वादन करके उनका ज्ञानानुभव प्राप्त करे। यदि वह किसी विषय-विशेष का विशेषज्ञ या सर्वज्ञ नहीं, तो कोई विशेष क्षति नहीं, किन्तु यदि वह बहुश्रुत, और बहुज्ञ नहीं तो वह आलोचन-कार्य के पूर्ण सफलता के साथ कर सकने में यथेष्ट रूप से समर्थ न हो सकेगा।

साहित्य, साहित्य का ऐतिहासिक विकास, देश का इतिहास (जिससे भिन्न भिन्न कालों में देश की सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक दशाओं, सभ्यता, संस्कृति के रूपों, आदि

का ज्ञान हो सके) भाषा का इतिहास आदि विषय ऐसे हैं जो प्रायः प्रत्येक समालोचक के लिए आवश्यक है, क्योंकि इनसे आलोचन-कार्य में बहुत बड़ी सहायता मिलती है। इनके साथ ही उसे यथेष्ट ज्ञान प्राप्त करना चाहिए चरित्रशास्त्र (Ethics) का भी, क्योंकि नाटक, उपन्यास आदि में चरित्र-चित्रण का प्राधान्य रहता है, और इसके लिए चरित्र-दर्शन का अध्ययन आवश्यक है। संक्षेप-रूप में कह सकते हैं कि जितने ही अधिक विषयों या बातों का ज्ञान जितना ही अधिक आलोचक को होगा वह उतने ही अधिक उच्च कोटि का आलोचक बन सकेगा। पांडित्य के साथ ही यदि लोकानुभव की भी पुट उसमें लगी है तब तो मानों उसमें सोने और सुगंधि की कहावत भी पूर्णतया चरितार्थ होती है।

आलोचना और भाषा

आलोचना का सम्बन्ध भाषा एवं भाषा-विज्ञान से भी अति घनिष्ठ और अनिवार्य है। भाषा ही पर यह अन्यान्य शास्त्रों की भाँति सब प्रकार समाधारित रहती है। भाषा ही इसका कलेवर है, यदि विचार इसके प्राण हैं।

किसी भी प्रकार की रचना क्यों न हो उसकी आलोचना तभी ठीक हो सकती है जब आलोचक उसे ठीक तरह समझ ले, यह बिना भाषा का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त किये नहीं हो सकता। भाषा-ज्ञान से तात्पर्य न केवल प्रचलित भाषा

(साहित्यिक एवं बोलचाल की) से पूर्ण परिचय प्राप्त करने ही से है वरन् उसके समस्त ऐतिहासिक विकास, उसके समस्त रूपरूपान्तरों (प्राचीन, एवं अर्वाचीनादि) उसकी शैलियों (पद-रचना या भाव-प्रकाशन-रीतियों) उसके व्याकरण, कोष एवं प्रयोग आदि सभी विषयों से यथोचित परिचय प्राप्त करने से है।

अस्तु, कहना चाहिए कि समालोचना के लिए भाषा-विज्ञान, व्याकरण, कोष तथा भाषा-मर्म-सूचक अन्य शास्त्रों या विषयों का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य है, क्योंकि आलोचना का इनसबसे आधाराधेय सम्बन्ध है। जब तक आलोचक को इन सबका यथोचित ज्ञान न होगा तब तक किसी (प्राचीन या अर्वाचीन) लेखक या कवि की किसी भी रचना का यथार्थ रूप में समझना उसके लिए नितान्त ही असम्भव होगा। और जब तक वह रचना को समझे हो गा नहीं तब तक वह आलोचना ही न कर सकेगा, यदि करने का दुस्साहस अनधिकार चेष्टा के साथ करेगा भी तो उसकी आलोचना आलोचना ही न हो सकेगी।

भाषा से सर्वथा परिचित होना हो समालोचक के लिए सत्समालोचना के करने से पूर्व अनिवार्य नहीं है वरन् भाषा के लिखने (एवं उसमें रचना करने) में भी उसे पूर्ण पटुता प्राप्त करना तथा अभ्यस्त होना भी अनिवार्य है। यदि वह भाषा के प्रयोग में कुशल न होगा अर्थात् अपने विचारों को

यथेष्ट भाषा के द्वारा प्रकट करने में क्षम या समर्थ न होगा तो वह किसी लेखक या कवि की कृति को पढ़ और समझ कर भी उसकी आलोचना के करने में असफल और असमर्थ ही रहेगा।

अस्तु, आलोचना के लिए न केवल भाषा-पांडित्य ही समापेक्षित है वरन् भाषा-प्रयोग-पटुत्व भी आवश्यक है। अर्थात् आलोचक को एक कुशल लेखक भी होना चाहिए। इसके साथ ही यदि उसे विविध प्रकार की साहित्यिक रचनायें करने में भी कुछ अभ्यास है तब तो और भी अधिक अच्छा है। क्योंकि इस प्रकार उसे न केवल शास्त्रीय ज्ञान ही आलोचना के लिए एक साधन रहेगा वरन् रचना-कला का अनुभव एवं प्रयोगात्मक (Practical) ज्ञान भी रहेगा, जिससे उसे अपने आलोचन-कार्य में बहुत अधिक सहायता मिल सकेगी।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि समालोचक को रचयिता भी होना चाहिए और उसमें, काव्य, नाटक, उपन्यास आदि विविध साहित्यिक रचनाओं में यथेष्ट अभ्यास होना चाहिए, हाँ यह अवश्य है कि उसे यदि इन सबका कुछ अनुभव हो तो बहुत अच्छा है। यह उसके लिए अवश्यमेव अनिवार्य है कि वह लेख लिखने में सर्वथा अभ्यस्त और कुशल हो। साथ ही उसमें भाषा की विविध शैलियों के उपयोग की यथेष्ट क्षमता भी हो, अर्थात् वह अपने विचारों को विविध

प्रकार से सफलता के साथ प्रकट कर सकता हो। भाषा पर उसका इतना अधिकार अवश्य हो कि वह अपने विचारों के अनुसार यथावश्यकता भिन्न भिन्न रूपों या ढंगों से चला सके। उसकी भाषा में प्रधानतया स्पष्टता, सत्यता, प्रभावोत्पादकता, रोचकता और भावपूर्णता का होना अनिवार्य ही-सा है। बिना इन गुणों के उसकी आलोचना सुपाठ्य, और प्रभाव डालनेवाली न हो सकेगी।

आलोचना के लिखते समय आलोचक को एक लेखक ही हो जाना चाहिए, और जिस प्रकार की वह आलोचना लिख रहा है ठीक उसी के अनुकूल उसे अपनी भाषा और शैली को भी रखना चाहिए। यदि वह वैज्ञानिक शैली की गवेषणी (Inductive) आलोचना लिख रहा है तो उसे अपनी भाषा बहुत ही संयत, स्पष्ट और साधारण रखना चाहिए। उसके वाक्य दीर्घाकार और जटिल न होने चाहिए, अन्यथा सुबोधता और स्पष्टता को, जो वैज्ञानिक शैली के अध्ययन या गवेषण के लिए अनिवार्य हैं, आघात पहुँचेगा। भाषा को अलंकृत (Figurative) और गूढ़ न बनाना चाहिए। भाषा और शैली में जहाँ तक सरलता, स्वाभाविकता और उपयुक्तता आ सके वहीं तक अच्छा है। वाक्य सीधे-सादे, स्वल्प और स्वाभाविक से रही रहें। शैली में इतिवृत्त (Matter of fact) की ही प्रधानता का रहना अच्छा है।

यदि आलोचना निर्णयात्मक (Judicial) है तो उसके लिए भाषा को सब प्रकार नियंत्रित, एकार्थदायिनी और सुव्यवस्थित रखना ही ठीक है। प्रत्येक वाक्य भावपूर्ण और सबल रहे। वाक्य-विन्यास में यौक्तिक क्रम (Logical Sequence or order) और पारस्परिक सहयोग-सम्बन्ध रहे। वाक्य एक दूसरे को पुष्ट करते और सहायता देते रहें। एक सुसंयुक्त शृंखला के ही समान वाक्यावली और पदावली को चलना चाहिए। तर्क या न्याय के नियमों का पूरा ध्यान रखना चाहिए और तर्कशास्त्र में दिखाये गये वदतो-व्याघातदोष (Self-contradiction) या जाति जैसे दोषों को न आने देना चाहिए। वाक्यों को इस प्रकार व्यवस्थित करना चाहिए कि उनके संयोग से स्वत:साध्य या परिणाम (Conclusion), जो निर्णय के रूप में होगा, निकल आवे। अपने कथन के प्रमाण भी यथावश्यकता और यथास्थान देते चलना चाहिए। सारांश यह है कि इस शैली की आलोचना में भाषा और शैली दोनों को तर्कोचित रखते हुए, पुष्ट, प्रौढ़ और प्रभाव-पूर्ण रखना चाहिए। शब्द, वाक्य, वाक्यांश सभी तुले हुए, सुव्यवस्थित, सुसंगठित और सार्थक रखने चाहिए। स्पष्टता और यथार्थता का ध्यान रखना अनिवार्य ही है। जहाँ तक हो सके इसमें समास न हों और यदि हों भी तो लघु आकार के ही हों, जटिलता और दुर्बोधता कहीं भी न आने पाये। पक्षापक्ष (रचना-वस्तु और अपने

सिद्धान्त) की स्पष्ट व्याख्या करके उस पर सतर्कता से विचार कर क्रमशः निर्णय की ओर जाना उचित है, रचना पर रचना-नियमों की चरितार्थता को बहुत ही विचारपूर्वक देखना चाहिए। कोई भी बात बिना प्रमाण के न रहनी चाहिए।

ऐतिहासिक रीति की (Historical) आलोचना में भाषा और शैली में रुचिरता और रोचकता की भी मात्रा यथेष्ट रूप में रक्खी जा सकती है, इसमें ऐसे शब्दों, वाक्यांशों और वाक्यों का प्रयोग अच्छा ठहरता है जो समाकर्षक, मंजुल और क्रिया-सूचक हों। शैली में कुछ तार्किकता का भी होना आवश्यक है क्योंकि रचना-वस्तु-गत बातों के ही आधार पर आलोचक को रचयिता तथा उस पर पड़नेवाले देश-काल के प्रभावों का अनुमान करना पड़ता है, अतएव अनुमानों के निकालने में उसे तर्क से ही काम लेना अनिवार्य होगा। गांभीर्य लाने के लिए भाषा उत्कृष्ट और धारावाही रक्खी जा सकती है, किन्तु प्रायः इसके लिए भी स्पष्ट, सरल और सुबोध भाषा ही अधिक उपयुक्त ठहरती है।

मनोवैज्ञानिक (Psychological) दार्शनिक और आन्वीक्षिकी (Investigative) शैली की आलोचनाओं में भाषा और शैली पर बहुत अधिक ध्यान रखना चाहिए। रचना से रचयिता की अन्तर्वृत्तियों या अन्तःप्रकृति की

मार्मिक बातों, उसके स्वभाव-चरित्रादि की विशेषताओं और उसके जीवन के मर्मों की छानबीन तथा समीक्षा करना साधारण काम नहीं, फिर गवेषणा-सम्बन्धी विचारों का व्यक्त करना और भी असाधारण बात है। ऐसी आलोचना में चूँकि आन्तरिक मर्मों का प्राधान्य रहता है इसलिए भाषा में अमूर्त (Abstract), भाव-पूर्ण और भावना-सूचक शब्दों, पदों तथा वाक्यों की ही प्रधानता और प्रचुरता रखनी चाहिए। वाक्यों में व्यंजकता (Suggestiveness) का ही प्राबल्य होना चाहिए। ऐसी दशा में भाषा कुछ उत्कृष्ट या गंभीर हो सकती है, और शैली में भी कुछ गूढ़ता और जटिलता-सी आ सकती है, फिर भी आलोचक को यही प्रयत्न करना चाहिए कि भाषा पर्याप्त रूप से सुबोध और स्पष्ट ही रहे। रोचकता और रुचिरता के लाने का भी पर्याप्त प्रयत्न करना चाहिए। जहाँ कहीं जीवन की घटनाओं पर भी प्रकाश डालना पड़ता है वहाँ भाषा में क्रियाप्रधान शब्द या वाक्य रक्खे जा सकते हैं।

ऐसी आलोचनाओं के लिए, जो आदर्शवाद (Idealism) प्रभाववाद (Impressionism) और सौंदर्यशास्त्र (Aesthetic Science) पर समाधारित रहती हैं, प्राय: सुसज्जित या अलंकृत (Figurative), चमत्कृत (Artistic) और समाकर्षक भाषा और शैली ही विशेष उपयुक्त होती है। इनमें कोमल-कान्तपदावली, रमणीक वाक्य-विन्यास और लालित्यमाधुर्यपूर्ण

शब्द-संगठन भी अधिक रोचक और रुचिर होता है। आदर्शवाद के अनुसार प्रथम अपनी आदर्श रचना की व्याख्या करके उसी के साथ आलोच्य रचना की तुलना-सी की जाती है, अतः इस प्रकार की आलोचना में संतोलन (शब्दों, वाक्यों आदि सभी में) का पूरा ध्यान रखना चाहिए। इसमें तुलनात्मक पदों, एवं वाक्यों की विशेष प्रधानता रखनी चाहिए।

आलोचनात्मक अध्ययन के लिए, जो विषय-विवेचनी या व्याख्यात्मक (Descriptive) आलोचनायें लिखी जाती हैं और जिनमें आलोच्य वस्तु या रचना के समस्त अंगों-प्रत्यंगों का सांगोपांग विवेचन विश्लेषण के साथ किया जाता है और उसकी सभी मार्मिक तथा रुचिर रोचकताओं के स्पष्टीकरण के साथ ही नवीन एवं मौलिक विशेषताओं पर भी प्रकाश डाला जाता है और उसके रहस्यों का उद्घाटन किया जाता है, उनके लिए, भाषा सर्वथा स्पष्ट, सुबोध, सुव्यवस्थित और साधारण ही रखनी चाहिए। यथास्थान पदावली तथा वाक्य-विन्यास को अमूर्त और समूर्त शब्दों से पूर्ण, रोचक और अर्थप्रकाशक रखना चाहिए। एक ही भाव को भिन्न भिन्न प्रकार के वाक्यों या शब्दों के द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों से समझाने का प्रयत्न करना चाहिए। स्थान स्थान पर रचना-सन्निहित सिद्धान्तों की भी व्याख्या करना चाहिए। साधारण और प्रवाह-पूर्ण शैली ही इसके लिए अधिक उपयुक्त ठहरती है। इसमें एक हो भाव या अर्थ के प्रकाशित

करनेवाले विविध प्रकार के शब्दों का प्राबल्य एवं प्राचुर्य रखना पड़ता है, भावों और तात्पर्यों को कतिपय रूपों में समझने और समझाने के लिए विविध प्रकार के शब्दों, एवं वाक्यों का संगुफन करना होता है। यह भी हो सकता है कि कहीं कहीं विशेषताओं के स्पष्टीकरण में भाषा कुछ जटिल, गंभीर और उत्कृष्ट हो जाये, किन्तु जहाँ तक हो सके प्रयत्न इसी बात का करना चाहिए कि भाषा रुचिर और रोचक होते हुए भी साधारण, सुबोध तथा सुव्यवस्थित ही रहे, वह साहित्यिक कोटि की रह कर भी स्पष्टता की सीमा से बाहर न जा सके।

इस प्रकार सूक्ष्म रूप से भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रमुख आलोचना-शैलियों के लिए भिन्न भिन्न प्रकार की भाषा-शैलियों का उपयोग किया जाता या जा सकता है, किन्तु वास्तव में आलोचन-कार्य के लिए भाषा के उपयोग का कोई स्थिर और नियमबद्ध विधान नहीं बनाया जा सकता। यह सब प्रकार सुयोग्य आलोचक की ही स्वतन्त्र इच्छा तथा अभ्यासो-पार्जित लेखन-शक्ति, प्रतिभा तथा योग्यता का विषय है कि वह किस प्रकार की भाषा तथा शैली का उपयोग अपनी आलोचना में करे। सिद्धहस्त लेखक की भाँति एक सुयोग्य और अभ्यस्त आलोचक भी अपनी विशेष प्रकार की भाषा एवं शैली के ही द्वारा अपनी आलोचना को सफल बना सकता है। वह उक्त व्यवस्था के सर्वथा प्रतिकूल कार्य भी

कर सकता है। वास्तव में भाषा और शैली, उसके अधीन होकर रहती है न कि वह इनके अधीन होकर रहता है, इनके कारण उसके मार्ग में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं उपस्थित हो सकती। यद्यपि यह बात सर्वथा सत्य है तथापि उन आलोचकों को, जिन्हें लिखने में यथोचित अभ्यास नहीं और जो भाषा और शैली के प्रयोगों में सिद्धहस्त नहीं, जिनमें लेखादि लिखने की कुशलता या पूर्ण पटुता नहीं, भाषा और शैली के प्रयोग तथा इनके चुनने पर भी यथेष्ट ध्यान रखना चाहिए। ऐसे ही लोगों के लिए यह विधान उपयुक्त तथा उपादेय हो सकता है।

—

साहित्य-समालोचना

साहित्य

इस शब्द का प्रयोग प्रथम केवल काव्य के ही लिए होता था क्योंकि प्रथम काव्य ही की रचना हुई थी। भारत के सर्व-प्रथम कवि प्रातःस्मरणीय श्री महर्षि वाल्मीकि जी ही माने गये हैं, उन्हीं के कारण काव्य (कविता) का प्रवेश-प्रकाश भारत और संस्कृत भाषा में हुआ है और उनकी रामायण ही काव्य-साहित्य का सर्वप्रथम एवं सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है। इसके अनुसार काव्य के उदयानन्तर ही काव्य-शास्त्र का निर्मित होना सिद्ध होता है। किन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि काव्य-शास्त्र की सत्ता एवं महत्ता वेदों के ही समय से माननी चाहिए, क्योंकि वेदों में काव्य-शास्त्र के तत्त्व प्राप्त होते हैं। इन्हीं तत्त्वों का मार्मिक ज्ञान प्राप्त कर चुकने पर कवियों ने काव्य-रचना की है। उक्त महर्षि वाल्मीकि भी वेदों के मर्मज्ञ और इसी लिए काव्यशास्त्र के तत्त्वदर्शी थे, इसी लिए उन्होंने इतना स्तुत्य काव्य रचा है। दोनों विचारों की पुष्टता देखते हुए इस विवाद को बन्द करने के हेतु कुछ विद्वानों की धारणा है कि काव्य और काव्य-शास्त्र दोनों अन्योन्याश्रित और सहचर हैं, अस्तु।

आचार्य भामा ने काव्य की परिभाषा देते हुए "शब्दार्थौ सहितं काव्यम्" लिखा है, और काव्य उसे माना है जिसकी रचना में शब्द और अर्थ दोनों से सम्बन्ध रखनेवाला चातुर्य-चमत्कार हो। सम्भवतः उनके पश्चात् ही काव्य को साहित्य की संज्ञा दी गई है और उनके सहित शब्द को ही इसका उद्गम माना गया है, क्योंकि साहित्य शब्द सहित शब्द से ही भावार्थ में (सहितस्य भावः साहित्यम्) सिद्ध होता है।

काव्य के अर्थ में साहित्य शब्द का प्रयोग बराबर अब तक होता आ रहा है। भर्तृहरि आदि कतिपय विद्वानों एवं कवियों ने इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है :—

"साहित्य-सङ्गीत-कलानभिज्ञः
साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः"। भर्तृहरि—

"शब्दार्थयोर्यथावत्सहयोगेन विद्या साहित्यविद्या"

—राजशेखर

साहित्यपाथोधिविमन्थनोत्थं काव्यामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः"

—विल्हण

इसी आधार पर काव्य-शास्त्र को भी साहित्यशास्त्र कहा गया है। काव्य के जितने भी गुण, कर्म, स्वभाव एवं अंग आदि हैं वे ही सब साहित्य के भी हैं। अब इधर कुछ वर्षों से साहित्य शब्द का प्रयोग ठीक उसी अर्थ में

किया जाता है जिस अर्थ में अँगरेज़ी शब्द Literature प्रयुक्त होता है। इस प्रकार अब साहित्य से तात्पर्य है किसी देश या समाज के समस्त प्रकार के सुन्दर विचारों, उपयोगी भावों एवं भव्य भावनाओं के विशद सुरक्षित समूह से। इस व्यापक और विस्तृत परिभाषा के अन्दर किसी भाषा के समस्त विषयों (काव्य, इतिहास, शास्त्र, भूगोलादि) का सारा ग्रंथ-समुच्चय आ जाता है।

यहाँ हमारा तात्पर्य जिस अर्थ से है वह साहित्य का पूर्व अर्थ ही है, अर्थात् यहाँ हम साहित्य शब्द को काव्य का पर्यायवाचक शब्द ही लेते हैं, और इस प्रकार अपने विषय को सीमित कर देते हैं।

अब साहित्य और समालोचना की परिभाषाओं का इस प्रकार विवेचन कर चुकने पर यह स्पष्ट ही हो जाता है कि साहित्य-समालोचना से क्या तात्पर्य है। किसी भाषा के साहित्य का सम्यक् रूप से अवलोकन करना ही उसका समालोचन करना है, इसी प्रकार उस साहित्य के किसी ग्रंथ-विशेष का भी विशेष रूप से अवलोकन करते हुए उसके गुण-दोषों पर दृष्टिपात कर अपना निश्चित मत उसके सम्बन्ध में स्थिर करना भी उसकी समालोचना करना है।

यहीं पर हम यह और कह देना चाहते हैं कि यदि साहित्य के किसी ग्रंथ का सब प्रकार अध्ययन किया गया है

श्रौर यह दिखलाया गया है कि उस ग्रंथ में किस विषय का निरूपण करते हुए किस रूप में उसके लेखक ने उसका प्रणयन किया है, उसमें किस बात का वर्णन किस प्रकार किया गया है, तो यह उस ग्रंथ का समालोचन न होकर उसका समावलोकन (Review) ही कहा जाता है, क्योंकि इसमें केवल ग्रंथ का सम्यक् रूप में अवलोकन-मात्र ही किया गया है। समालोचन के लिए यह आवश्यक है कि उसमें ग्रंथावलोकन के परिणाम के साथ ही साथ आलोचक उस ग्रंथ के गुणों एवं दोषों पर भी यथेष्ट प्रकाश डालता हुआ उस ग्रंथ के सम्बन्ध में अपना निश्चित मत (Judgement) भी प्रकट करे, श्रौर यह दिखलावे कि उसकी रचना करने में लेखक को कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई है श्रौर उसके द्वारा देश एवं समाज पर क्या प्रभाव पड़ सकता है, इत्यादि। यदि ऐसा नहीं किया गया श्रौर केवल ग्रंथ का अवलोकन ही किया जाकर उसका यथोचित परिचय-मात्र दे दिया गया है तो यह समालोचन न होकर समावलोकन ही कहा जायगा। इसी को अँगरेज़ी में Review कहते हैं। अस्तु यह भी अब स्पष्ट ही है कि समालोचना (Criticism) में आलोच्य विषय या ग्रंथ के गुण-दोषों का निदर्शन श्रौर तदाधार पर स्वमत-प्रकाशन अनिवार्य एवं आवश्यक है। इसके साथ ही लेखक तथा उसकी रचना के अन्तरंग एवं बहिरंग सौंदर्य तथा कौशलादि पर प्रकाश डालना भी अभीष्ट है। बिना इन बातों के समालोचना

का तात्पर्य पूरा ही नहीं होता। अतएव कह सकते हैं कि समालोचना का मूल उद्देश्य उस निष्कर्ष का प्रकट करना है जिस पर उसका कोई भी सहृदय पाठक उसे सम्यक् प्रकार से पढ़कर पहुँच सकता है।

समावलोकन से यह तात्पर्य है कि उसके द्वारा दूसरों को उस समावलोकित ग्रंथ का पूरा परिचय प्राप्त हो जावे और उसके पढ़ने से पूर्व उनका मार्ग सब प्रकार सुबोध, सुगम और सरल हो जाये। इसमें ग्रंथ के गुण-दोष-विवेचन, मत-प्रकाशन और उसके प्रभावादि का स्पष्टीकरण या निदर्शन आवश्यक नहीं। इसका कार्य या उद्देश्य केवल दूसरे पाठकों के लिए उसके अध्ययन के पथ का प्रदर्शन कराते हुए उसका पूर्व परिचय दे देना ही है।

यह अवश्य है कि समालोचना में सूक्ष्म रूप से आलोच्य ग्रंथ के वर्ण्य-विषय का परिचय भी दिया जा सकता है और इस प्रकार उसमें समावलोकन का सामंजस्य किया जा सकता है। किन्तु यह उसके लिए नितान्त आवश्यक नहीं। वास्तव में समालोचना का सम्बन्ध आलोच्य विषय या ग्रंथ पर यथेष्ट रूप से निर्णयात्मक दृष्टि डाल कर स्वमत-प्रकाशन से ही है, यही आलोचना का प्राण है, इसके बिना आलोचना निर्जीव-सी ही रहती है।

यदि हम आलोचना को एक प्राणी मान लें तो निर्णयात्मक स्वमत उसका प्राण, आलोच्य ग्रंथ का सम्यक् अवलोकन

(विवेचन) जिसके अन्दर ग्रंथ के विषयों का सूक्ष्म परिचय, निरूपण आदि भी आ जाते हैं, उसका कलेवर या शरीर और गुण-दोष-निदर्शन, कला-कौशल-प्रकाशन आदि उसके अंग-प्रत्यंग हैं।

यह नितान्त स्मरणीय है कि गुण-दोष-प्रकाशन का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि केवल गुण ही प्रकट किये जायें या केवल दोषों का ही प्रदर्शन कराया जावे। कोई पदार्थ इस संसार में ऐसा नहीं जिसमें गुणों के साथ दोष न हों, प्रत्येक गुणयुक्त पदार्थ में कुछ न कुछ दोष और प्रत्येक दोषयुक्त पदार्थ में कुछ न कुछ गुण अवश्य होते हैं। दोषरहित और गुणसहित यदि कुछ है तो केवल एक वही है जिसे ब्रह्म कहते हैं।

यदि आलोचना में केवल गुण ही प्रकट किये गये हैं तो वह प्रशंसा है और यदि केवल दोष ही दिखलाये गये हैं तो वह निन्दा है। समालोचना में यथार्थ गुण-दोषों का वास्तविक एवं उपयुक्त निदर्शन होना चाहिए। समालोचना के विविध रूपों पर आगे प्रकाश डाला गया है जिससे उसके तत्त्वों, अंगों और रूपों का यथेष्ट परिचय प्राप्त हो सकेगा।

उद्देश्य-लाभ

समालोचना का मूल या मुख्य उद्देश्य, यदि सूक्ष्म-रूप में प्रकट किया जाय, वास्तव में सत्य, लोक-मांगल्य (जिसके अन्दर देश-समाज का हित, ज्ञान-वृद्धि, सत्पथ-प्रदर्शन एवं अध्ययन-शिक्षणादि भी आ जाते हैं) और सौंदर्यानन्द की खोज करना है। इसके साथ ही समालोचना का लक्ष्य यह भी है कि जिन दोषों से किसी रचना में अरुचिकर एवं अनीप्सित कलुषितता आ जाती है उनसे रचयिता तथा अन्य जनों को सावधान करा दे जिससे वह लेखक या वैसा ही कोई अन्य लेखक उन दोषों की पुनरुक्ति से अपनी रचना को सदोष और अरोचक न करे।

किसी ग्रंथ के सम्बन्ध में समालोचक उपयुक्त अवलोकन के पश्चात् जो अपना निश्चित निर्णय या मत प्रकट करता है उससे जनता को बड़ा लाभ होता है। पाठकों को यह ज्ञात हो जाता है कि अमुक ग्रंथ कितना अच्छा और पठनीय है, तथा कहाँ तक वह ग्राह्य अथवा त्याज्य है। साथ ही लेखक को अपने उत्तरदायित्व के परिपालन की सफलता

एवं असफलता का भी ज्ञान हो जाता है जिससे वह अपने मार्ग में उचितोपयोगी सुधार कर सकता है।

इसके साथ ही समालोचना से किसी ग्रंथ के सौंदर्य पर ऐसा प्रकाश पड़ जाता है कि वह दूसरों के लिए नितान्त सुबोध, सुगम और सरल साध्य हो जाता है। कहना चाहिए कि किसी लेखक या कवि की रचना को यदि किसी के द्वारा वास्तव में महत्ता एवं स्थायी सत्ता प्राप्त होती है तो वह समालोचक ही है, और उसकी सत्समालोचना ही वह विधि है जिसके द्वारा आलोच्य रचना को गौरव प्राप्त होता है, उसका स्थान साहित्य-समाज में स्थिर या निश्चित हो जाता है।

सुयोग्य समालोचक की सत्समालोचना से आलोच्य रचना की वे जटिल एवं दुर्बोध ग्रंथियाँ भी सुलझ कर सुबोध एवं स्पष्ट हो जाती हैं जिनका सुलझाना या समझना साधारण व्यक्ति के लिए कठिन होता है। सत्समालोचना इस प्रकार किसी आलोच्य रचना को चारुता से ऐसा चमका देती या सकती है जैसा उसका रचयिता उसे नहीं चमका सका या सकता है। लेखक या कवि की प्रतिभा को सुन्दर प्रभा से प्रकाशित करना वास्तव में उसके सुयोग्य समालोचक का ही काम है। समालोचक ऐसा करके न केवल लेखक और उसकी रचना को गौरवान्वित ही करता है वरन् उनको लोक-प्रसिद्ध, परिचित और व्यापक भी बनाता है, क्योंकि

उसकी सत्समालोचना से आकर्षित होकर लोग उस रचना को अपनाते और पढ़ने लगते हैं, जिससे उसका विस्तृत प्रचार हो जाता है और उसे समाज में समादरपूर्ण स्थान प्राप्त हो जाता है।

यहीं यह भी कह देना अनुपयुक्त न होगा कि जिस प्रकार सुयोग्य एवं सहृदय समालोचक किसी लेखक या कवि तथा उसकी रचना को अपनी सत्समालोचना से गौरवान्वित कर सकता है उसी प्रकार एक अयोग्य एवं अरसिक आलोचक अपनी दुरालोचना से उसे विगर्हित एवं तिरस्कृत भी कर सकता है। इस दृष्टि से समालोचक को एक प्रकार का विरंचि भी कहा जा सकता है। कोई रचना कितनी भी निर्दोष तथा सुन्दर क्यों न हो, एक दुरालोचक के द्वारा वह नष्ट की जा सकती है, ठीक इसी प्रकार एक साधारण रचना भी सुयोग्य समालोचक के द्वारा बहुत कुछ उत्तम और चमत्कृत रूप में प्रकाशित की जा सकती है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि जिस प्रकार कवि या लेखक श्रेष्ठ और निकृष्ट होते हैं उसी प्रकार समालोचक भी। श्रेष्ठ समालोचकों का स्थान श्रेष्ठ कवि या लेखक की ही भाँति साहित्य-समाज में बहुत ऊँचा माना जाता है और निकृष्ट का बहुत ही निम्न श्रेणी में। ध्यान रखना चाहिए कि यदि आलोचक किसी कारणवश किसी सुरचना को, जो किसी लेखक या कवि की श्रम-मूर्ति एवं आत्मा ही है,

जान बूझकर नष्ट करता है तो वह वास्तव में हत्या करता है, और हत्या करता है न केवल उस कवि या लेखक तथा उस रचना की वरन् अपनी भी, क्योंकि उसका हृदय वास्तव में उस रचना को उस रूप में प्रकाशित करने की आज्ञा नहीं देता और आलोचक की सच्ची आलोचना को उसके अन्तः-करण से नहीं निकलने देता। उसकी उस दुरालोचना में उसका हृदय-प्रतिबिम्ब न रहकर उसकी कुप्रवृत्ति की ही छाया रहती है।

किसी सुन्दर रचना की सत्समालोचना उसके रचयिता के उस रचनोद्देश्य की पूर्ति करती है, जिसे यशलाभ कहा गया है और जो सत्काव्य का एक प्रमुख उद्देश्य है*। इस प्रकार सत्समालोचना किसी सफल कवि या लेखक के लिए उसकी सुन्दर रचना के उपलक्ष में ऐसा यशस्कर पुरस्कार है, जो उसे फिर अधिक सुन्दर रचना करने में प्रोत्साहित करता है। जिस प्रकार कवि या लेखक के लिए सत्समालोचना पुरस्कार है उसी प्रकार समालोचक के लिए भी वह उसका पांडित्यप्रकाशक एवं कीर्तिकारक स्वाध्ययन-प्रदर्शन है। समालोचना से न केवल कवि या लेखक तथा उसकी रचना की ही मार्मिक प्रतिभा प्रकट होती है वरन् समालोचक की भी।

* "काव्यं यशसे........काव्य प्र०

अतः कह सकते हैं और कहा भी गया है कि समालोचना से साहित्य की समृद्धि-वृद्धि होती है। सुन्दर सत्समालोचना से प्रोत्साहित होकर लेखकों एवं कवियों तथा उनकी रचनाओं में वृद्धि होती है। साथ ही सत्समालोचना से, जो स्वयमेव साहित्य का एक मुख्य अंग है, गद्य में तर्कात्मक विवेचन-विचार की वृद्धि होती है। अस्तु इससे साहित्य तथा उसके रसास्वादन दोनों को सहायता मिलती है।

समालोचक साहित्य-कानन में प्रकट होनेवाले काव्य-कुसुमों के चुननेवाले चतुर माली से भी हैं, जो अच्छे अच्छे फूलों-फलों को चुनकर बुरे फूलों-फलों से अलग कर देते, और उनके गुणों-दोषों से सबको परिचित कर देते हैं, जिससे अन्यजन उन्हीं चुने हुए सुन्दर फूलों-फलों को ग्रहण कर रसानन्द प्राप्त करते हैं। साथ ही बुरे फूलों-फलों का त्याग कर सकते हैं।

अस्तु कहना चाहिए कि सत्समालोचना एवं सत्समालोचक जनता को सुपाठ्य पुस्तकों के संचयन-कार्य में पथ-प्रदर्शक एवं नेता का कार्य करते हैं। और साधारण मनुष्यों को सुपाठ्य पुस्तकों के पठन-पाठन की ओर समाकृष्ट एवं लगाकर उन्हें समुन्नति की ओर ले जाते हैं। अस्तु, इस प्रकार वे साहित्य-हित करते हुए देश-समाज या राष्ट्र का भी हित करते हैं।

निन्दनीय रचनाओं को विगर्हित या तिरस्कृत करते हुए वे त्याज्य बनाते हैं और साहित्य-समाज से उन्हें बहिष्कृत करा देते हैं। इस प्रकार सत्समालोचक अपनी सत्समालोचना के द्वारा साहित्य एवं समाज का सुधार, संशोधन एवं संस्कार करते हुए उन्हें शुद्ध, परिमार्जित एवं परिष्कृत करते हैं, अस्तु, समालोचकों और उनकी सत्समालोचनाओं से देश-समाज एवं साहित्य को बहुत लाभ होता है।

समालोचक अपनी सत्समालोचनाओं के द्वारा न केवल साहित्य की ही समृद्धि-वृद्धि करता है वरन् भाषा का भी बहुत कुछ परिमार्जन एवं परिशोधन करता हुआ संस्कार करता है। भाषा-सम्बन्धी दोषों की ओर वह अंगुल्या-निर्देश करता हुआ जनता को उनसे सचेत करता है और शुद्ध तथा सुन्दर भाषा के प्रयोग की ओर ले चलता है जिससे भाषा का परिष्कार हो जाता है और उसके दोष दूर हो जाते हैं। इसी प्रकार वह सुन्दर तथा प्रभावपूर्ण प्रयोगों (मुहावरों, Idioms) का भी प्रचार-प्रस्तार करता हुआ भाषा की शैलियों (भाव-प्रकाशन-रीतियों या Styles) पर भी प्रकाश डालता हुआ उन्हें प्रचलित करने में सहायक होता है। अतः कहना चाहिए कि समालोचक और समालोचना से भाषा की भी श्रीवृद्धि होती है।

जिस प्रकार सत्समालोचना से समाज, साहित्य, भाषादि को लाभ होता है उसी प्रकार दुरालोचना से इन्हें हानि भी होती है।

जिस प्रकार रचनाओं से साहित्य-सद्म का निर्माण होता है उसी प्रकार आलोचनाओं से भी एक विशेष प्रकार के साहित्य की उत्पत्ति होती है। यह साहित्य वह प्रकाश फेंकनेवाला सूर्य है जिसकी प्रभा के बिना साहित्य-सदन भले प्रकार से अपने सौंदर्य तथा सुखद रूप को प्रकट ही नहीं कर सकता। साहित्य की सुन्दरता, सजावट, सुखद सामग्री, या रत्न-राशि-रचना इसी के प्रकाश में निखरती-बिखरती है।

आलोचना किसी रचना की विवेचना या व्याख्या सी करके उसकी समस्त रहस्यमयी गूढ़ ग्रंथियों या मर्मस्थलों को खोलकर स्पष्ट और सुबोध कर देती है। साथ ही हमें किस प्रकार किसी साहित्यिक रचना और उसके रचयिता को देखना, समझना, उसके विषय में विचार करना और इसी प्रकार दूसरों को भी उन्हें दिखाना, समझाना, और उन पर विचार कराना चाहिए, यह भी आलोचना से ही प्रकट होता है। अस्तु, आलोचना हमें साहित्याध्ययन में भी सहायता देती है।

अध्ययन या पठन में हमारा प्रथम उद्देश्य किसी रचना के द्वारा उसके रचयिता के सम्बन्ध (उसके विचारादि के विषय) में यथोचित या यथेष्ट ज्ञान प्राप्त करना होता है। हम उस रचना के द्वारा उसके लेखक से अपना आन्तरिक (मानसिक) सम्बन्ध स्थापित करना और उसके मन, हृदय आदि से पूर्णतया परिचित होना चाहते हैं, साथ ही

उसके मन-हृदय आदि से अपने मन-हृदय आदि की तुलना करते हुए सादृश्यासादृश्य भी देखना चाहते हैं। हम उसकी रचना में प्रतिबिंबित होनेवाली उसकी अन्तरात्मा या रचना में छाया-रूप से प्रदर्शित होनेवाले उसके अन्तर्जगत् को देखना, समझना और उनका अनुभव स्वयमेव करना चाहते हैं और यह सब अपनी ही ओर से और अपने ही लिए करना चाहते हैं। इस विचार से देखने पर किसी रचना की आलोचना का पढ़ना मानों समय का दुरुपयोग करना-मात्र है, क्योंकि आलोचना के द्वारा हम आलोच्य रचना और उसके रचयिता को सीधे सीधे और यथार्थता के साथ अपने अनुसार नहीं जान और समझ सकते।

आलोचना का पढ़ना मानों आलोच्य रचना और उसके रचयिता के सम्बन्ध में आलोचक के विचारों का ही जानना-मात्र है। वह जैसा अपनी आलोच्य रचना और उसके रचयिता को समझता, सोचता और उसी आधार जैसी अपनी धारणा बनाकर निर्णय के रूप में अपना मत प्रकट करता है हम वैसा ही उसकी आलोचना से समझ, सोच और विचार सकते हैं। यह सर्वथा सम्भव है और सत्य भी है कि बिना उस आलोचना को पढ़े हुए हम उस आलोचित रचना और उसके रचयिता को अपने अनुसार स्वतंत्र रूप में सर्वथा दूसरे ही प्रकार समझ और विचार सकते हैं, और जब हम स्वतंत्रता

के साथ किसी रचना को लेकर स्वयमेव देखते हैं तब हम उसे अपने ही अनुसार देखते हुए उसके रचयिता से परिचय प्राप्त करके उसकी विचार-धारादि को समझते और विचारते हैं। ऐसी ही दशा में हम स्पष्टतया स्वतंत्रता के साथ उस रचना और उसके रचयिता के सम्बन्ध में अपने (प्रत्यक्ष रूप से किये गये अनुभव) के आधार पर कुछ कह सकते हैं। आलोचना पढ़कर हम आलोचक के ही विचारों को जान और प्रकट कर सकते हैं, क्योंकि हमने मूल रूप से आलोच्य रचना का स्वाध्याय नहीं किया।

प्राय: यह देखा जाता है कि हम किसी रचना का स्वाध्याय करके जब उसकी आलोचना देखते हैं तब हम आलोचक के बहुत-से विचारों के साथ न्यूनाधिक रूप में कभी तो सहमत होते और कभी नहीं भो होते, और हम स्वतः उसी रचना की दूसरे ही रूप में आलोचना करते हैं। यह सर्वथा सम्भव है कि आलोचक ने अपनी आलोच्य रचना और रचयिता को ठीक ठीक न समझा हो अथवा बिलकुल ही न समझा हो या जैसा वास्तव में उसे समझना चाहिए (जैसा समझाने का प्रयत्न रचयिता अपनी रचना में करता है) वैसा न समझ कर किसी दूसरे ही रूप में समझा हो, इन दशाओं में आलोचना का पढ़ना हमारे लिए भ्रमात्मक और हानिकर ही होगा। इसलिए किसी आलोचना के पढ़ने से पूर्व यह अवश्यमेव देख लेना चाहिए कि उसका लेखक

सत्समालोचक है या नहीं, वास्तव में वह समालोचना करने के योग्य है या नहीं। सुयोग्य सत्समालोचक की ही आलोचना अवलोकनीय और मानने के योग्य होती है।

प्रायः साधारण ज्ञान रखनेवाले पाठक आलोचना के प्रभाव से ऐसे प्रभावित हो जाते हैं कि वे मूल रचना के यथार्थतः समझने में भी अशक्त से हो जाते हैं। वे उसे उसी दृष्टि से उसी रूप में देखते तथा समझते हैं जिस दृष्टि या रूप से आलोचक ने, जिसकी आलोचना उन्होंने पढ़ी है, उसे देखा तथा समझा है। चाहे वह ठीक हो या न हो।

इन्हीं कारणों से आलोचना की भी आलोचना होती है और इस प्रकार आलोचना-प्रत्यालोचना-सम्बन्धी एक विस्तृत और स्वतंत्र साहित्य-सद्म तैयार हो जाता है। अँगरेज़ी-साहित्य में इस प्रकार का आलोचना-प्रत्यालोचना-सम्बन्धी बहुत विशद साहित्य तैयार हो गया है किन्तु हिन्दी में अभी तक यह बात नहीं है। संस्कृत में तो इसका सर्वथा अभाव ही सा है। संस्कृतज्ञों में मूलरचना के ही स्वाध्याय (मनन और चिन्तन) की ही प्रणाली विशेषतया प्रचलित रही है और अब तक भी है। इस प्रकार के अध्ययन से मूल ग्रंथ का प्राथमिक ज्ञानानुभव प्राप्त होता है, किन्तु आलोचनाध्ययन से उसका गौण रूप में ही ज्ञान होता है। प्रायः किसी रचना की आलोचना-प्रत्यालोचना की जटिल जालिका का अध्ययन करते हुए हम मूल-रचना को छोड़ ही देते हैं और आलोचना-प्रत्यालोचना पर ही संतुष्ट हो

बैठते हैं। वास्तव में आलोचनाध्ययन आलोच्य मूलरचना के अध्ययन का सच्चा स्थानापन्न कदापि नहीं हो सकता।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि आलोचना-साहित्य व्यर्थ और अनुपयोगी है। यदि साहित्य (काव्य, नाटकादि) मानव जीवन, जगत् (अन्तर्जगत् और बाह्य संसार) और प्रकृति की रुचिर रोचक तथा आनन्दप्रद दशाओं (अवस्थाओं) भाव-भावनाओं तथा तत्सम्बन्धी कल्पनाओं की ज्ञानानुभूति का वह व्यंजनात्मक विवेचन या वर्णन है जो सरस, सुन्दर और समलंकृत भाषा तथा विचित्र चित्ताकर्षक शैली में लिखा गया है, जिसमें लेखक के व्यक्तित्व (उसके मन, हृदय, स्वभाव, जीवनादि-सम्बन्धी भाव-भावनाओं का प्रतिबिम्ब प्रधान रहता है) की भी छाप रहती तथा उसकी अंतरात्मा की छाया झलकती रहती है, तो साहित्य की आलोचना भी इन्हीं समस्त तत्त्वों से बननेवाली ऐसी समष्टि है जो एक विशिष्ट प्रकार की भाषा एवं शैली के द्वारा उस साहित्य और उसके निर्माताओं की व्यक्ताव्यक्त सभी मार्मिक बातों पर यथेष्ट विवेचना एवं व्याख्या के साथ प्रकाश डालती है। अस्तु आलोचना-साहित्य की भी अपनी विशिष्ट सत्ता तथा महत्ता है।

साहित्य बहुत ही विशालकाय सागर-सा हो गया है, उसमें एक-दो, दस-बीस ही नहीं वरन् सहस्रों ऐसे रुचिर रत्न विद्यमान हैं जिनका निर्माण एक नहीं अनेक विरंचिवरों ने किया है। अतएव यह हमारे लिए यदि असाध्य और असम्भव नहीं तो

दुस्साध्य और प्राय: असम्भाव्य ही-सा अवश्य है कि हम इन समस्त रत्नों का, जिनकी संख्या प्रतिदिन क्रमश: बढ़ती ही जाती है, सांगोपांग अवलोकन कर उन्हें परख सकें—हमारी वही दशा है जैसा एक कवि लिखता है—"Art is long and time is fleeting (जीवन है लघु, समय भग रहा और बहुत है विस्तृत कार्य।)" ऐसी दशा में न तो हमारे पास इतना अवकाश ही है और न इतना धैर्य ही कि हम इस अपार साहित्यसागर का पार पा सकें और इसका सांगोपांग अवलोकन कर इसका मार्मिक तथा यथेष्ट परिचय पा सकें। अस्तु हमारे लिए यही सुगम और साध्य ठहरता है कि हम सूक्ष्म रूप से उन चतुर और सुयोग्य समालोचकों के लेखों से सहायता लें जिन्होंने स्तुत्य गवेषणा, श्रम और साहस के साथ साहित्य और उसके अनेक रचयिताओं (कवियों तथा लेखकों) का सम्यक् अध्ययन कर विवेचनालोचना के रूप में सर्वथा आवश्यक परिचय देते हुए उसकी सम्पूर्ण मार्मिक बातों या तत्त्वों पर प्रकाश डाला है और स्पष्टतया बतला दिया है कि उसकी कौन कौन-सी रचनायें तथा रचयिता किन किन बातों में कहाँ कहाँ कैसे रुचिर और रोचक हैं, कौन कौन से अवलोकनीय एवं ग्राह्य तथा कौन कौन से उपेक्षणीय और त्याज्य हैं। किनमें कहाँ, कैसी और कितनी विचित्र विशेषतायें हैं और किनका कैसा स्थान तथा मूल्य है।

यह सर्वथा सत्य है कि हमें आलोचना-साहित्य से साहित्य

का उतना और वैसा पूरा ज्ञानानुभव नहीं प्राप्त हो सकता जितना और जैसा हमें प्राप्त होगा यदि हम स्वयमेव साहित्य के सम्पूर्ण सुन्दर रचना-रत्नों का अध्ययन करें, क्योंकि आलोचनायें उन रत्नों पर सूक्ष्म किंतु मार्मिक प्रकाश ही डालेंगी और वह भी आलोचकों के विशेष तथा विचित्र दृष्टिकोण और रुचिवैचित्र्य के आधार पर, अतएव इस प्रकार का आलोचनात्मक परिचय या विवेचन हमारे स्वाध्याय के सामने गौण रूप में ही रहेगा। किन्तु जब हमारे लिए साहित्य का सम्यक् स्वाध्याय असाध्य-सा है तब उसका कुछ आवश्यक तथा मार्मिक परिचय प्राप्त कर लेना ही हमारे लिए सर्वथा उपयुक्तोपादेय और आवश्यक होगा। साहित्य के सुन्दर (गंभीर, क्लिष्ट, तथा बृहद्) ग्रंथों तथा उनके स्तुत्य ग्रंथकारों का सूक्ष्म किन्तु मार्मिक ज्ञान प्राप्त करना उनके विषय में नितान्त अजान रहने की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छा है।

बहुधा हमारे लिए यह कठिन और कष्टसाध्य ही नहीं वरन् असम्भव-सा ही रहता है कि हम साहित्य के बहुत-से गंभीर तथा उच्च कोटि के ग्रंथों तथा ग्रंथकारों को समुचित रूप से वस्तुतः स्वयमेव समझ सकें और किसी से सहायता न लें, ऐसी दशा में हमें या तो ऐसे महान् ग्रंथ छोड़ ही देने पड़ते हैं या यदि हम उन्हें उठाते भी हैं तो हमें उनके समझने के लिए किसी टीका, भाष्य, विवेचना या आलोचना की अनिवार्य रूप से आवश्यकता पड़ती है।

ऐसी दशा में भी हम उन समस्त ग्रंथों तथा समस्त साहित्य का अध्ययन नहीं कर सकते वरन् उनमें से हमें कुछ ग्रंथ-रत्नों को ही चुनकर पढ़ने की आवश्यकता होती है, यह भी हमें किसी आलोचक की ही लेखनी से साध्य होता है, अस्तु आलोचना-साहित्य की आवश्यकता स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाती है। इस व्यावहारिक दृष्टि से इसकी उपयोगिता भी यहीं निर्विवाद प्रमाणित होती है।

आलोचना-साहित्य का उपयोग हम दो प्रमुख रूपों से कर सकते हैं—१—उसके द्वारा हम थोड़े समय, श्रम और स्थान में प्रसिद्ध तथा "अवशि देखिये देखन योगू" या "अवसि बाँचिये बाँचन योगू" ग्रंथों तथा प्रतिष्ठित ग्रंथकारों के विषय में यथेष्ट रूप से मार्मिक और आवश्यक ज्ञान प्राप्त करते हुए अपनी जिज्ञासा तथा लालसा को शान्त कर सकते हैं, और जब जहाँ हमारे लिए स्वाध्याय से मूल-ज्ञान प्राप्त करना असम्भव या असाध्य-सा ठहरता है तब वहाँ हम उसके स्थान पर आलोचना-साहित्य से प्राप्त किये हुए ज्ञान को स्थानापन्न करके अपनी योग्यता की ऊनता को बहुत कुछ अंशों में पूरा कर सकते हैं।

२—आलोचना को हम अपना पथ-प्रदर्शक बनाकर उसी के आधार पर किसी साहित्य-क्षेत्र का पर्यटन और अवलोकन कर सकते हैं और अपने स्वाध्याय को सरलता के साथ सम्पन्न कर सकते हैं।

यह अवश्य है कि आलोचना प्रायः हमारे उस सीधे सम्बन्ध को रोकती है जिसे हम आलोच्य रचना के रचयिता के साथ उसकी रचना का स्वयमेव अध्ययन करके स्थापित कर सकते हैं। साथ ही आलोचना, यदि वह किसी ऐसे आलोचक की कृति है जिसमें इतनी प्रौढ़ प्रतिभा और ऐसा पूर्ण प्रभाव है कि हम उसके आधीन से होकर उसी के अनुगामी बन जाते हैं, हमें आलोच्य वस्तु को अपनी आँखों से न तो देखने ही देती है और न अपनी बुद्धि से समझने ही, वरन् हमें उसे उसी रूप में दिखाती तथा समझाती है जिस रूप में आलोचक ने उसे देखा तथा समझा है। अस्तु हम रचना के उस अंश को छोड़ देते हैं जिसे आलोचक ने अपनी आलोचना में छोड़ दिया है। हम उसी आलोचक के मार्गानुसारी हो जाते हैं। किन्तु यदि हम आलोचना-मात्र से ही संतुष्ट न होकर आलोचनाध्ययन को मूलपुस्तक के स्वाध्याय का स्थानापन्न न समझ स्वाध्याय को ही महत्ता देते हुए आलोचना के साथ ही मूलरचना को भी देखें तो यह बाधा और त्रुटि दूर हो सकती है।

हमें उन्हीं आलोचकों की आलोचनाओं का अवलोकन करना तथा उन्हीं को महत्त्व देते हुए मान्य समझना चाहिए जो अपने विषय में पूर्णपटु और अपने उत्तरदायित्व तथा कर्त्तव्य-कर्म को भले प्रकार जानते हुए आलोचन-कार्य के लिए सुयोग्य और सच्चे अधिकारी हों, जिनमें हमसे कहीं

अधिक योग्यता, प्रौढ़ता, ज्ञानानुभूति तथा विवेकबुद्धि हो, तथा जिनमें समझने, सोचने, रचना और रचयिता के अन्दर पैठने-बैठने की सूक्ष्म तथा पैनी अन्तर्दृष्टि, कल्पना-कुशलता और निर्णय करने की यथोचित क्षमता हो। ऐसे ही आलोचक के द्वारा हम रचना और रचयिता के सम्बन्ध में वे सब मार्मिक बातें जान सकते हैं जिन्हें हम अपने स्वतंत्र स्वाध्याय से कदापि न जान पाते। ऐसे हो आलोचकों की सर्वाङ्गपूर्ण तथा आलोच्य रचना पर विविध रूपों से प्रकाश डालनेवाली वास्तविक आलोचना के द्वारा हम नवीन दृष्टिकोण, भावप्रकाशन की विशिष्ट तथा विचित्र शैली या रीति, गुणदोष-विश्लेषण-विधि, तर्कपुष्ट निर्णय-नीति और तुलना की रीति जान सकते हैं।

आलोचक कभी तो हमारा पथ-प्रदर्शक, कभी हमारा मित्र या सहचर और कभी शिक्षक बन जाता है, और हमें साहित्य-क्षेत्र में पर्यटन कराके ज्ञानानन्द प्राप्त करने में रुचि उत्पन्न कराता हुआ प्रोत्साहित करता है और स्वाध्याय के पथ की ओर अग्रसर करता है।

किसी रचना को स्वयमेव देखने के पूर्व यदि उसकी आलोचना देखी गई है, तब तो वह आलोचना उस आलोच्य रचना के पढ़ने, समझने, और सराहने में सुविधा उत्पन्न कर सहायता पहुँचाती है, और यदि रचना के अवलोकन के उपरान्त देखी गई है तब वह हमारे विचारों, भावों या निर्णयों को हमारे साथ वादविवाद सा करके परिष्कृत या परिमार्जित

कर सकती है। अस्तु कह सकते हैं कि आलोचना से हमें लाभ ही होता है चाहे वह कितने ही न्यूनाधिक रूप में क्यों न हो।

आलोचना का अध्ययन करने से हम आलोचक के भी विषय में बहुत कुछ जान सकते हैं। क्योंकि उसकी आलोचना में उसकी प्रवृत्ति, रुचि, प्रकृति, योग्यता तथा आत्मा आदि का ठीक उसी प्रकार प्रतिबिम्ब पड़ता है जिस प्रकार किसी रचयिता का उसकी रचना पर। जिस प्रकार वह रचयिता के व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब रचना में देखता है उसी प्रकार उसके व्यक्तित्व की छाया भी उसकी कृति या आलोचना में देखी जा सकती है। अस्तु आलोचना न केवल साहित्याध्ययन का सहायक एवं साधन ही है वरन् स्वतः स्वतंत्र रूप से भी अवलोकनीय और पठनीय है।

—

आलोचना, सुरुचि और दृष्टिकोण

आलोचना करने में आलोचक को प्रायः अपने दृष्टिकोण का भी निश्चित कर लेना आवश्यक होता है। यदि आलोचक बिना किसी निश्चित दृष्टिकोण के ही आलोचन-कार्य करेगा तो वह सम्भवतः कभी कभी बहक जा सकता है। उसकी आलोचना में यथोचित यौक्तिक क्रम तथा तार्किक पुष्टता का अभाव हो सकता है। यदि वह किसी ग्रंथ को लेकर उसे जैसा है वैसा ही देखता और प्रकट करता है तब भी मानो वह यथा स्यात्तथा रूप में अपना दृष्टिकोण रखता है, अस्तु कहना चाहिए कि बिना किसी दृष्टिकोण के वह कार्य ही नहीं कर सकता।

आलोचना-क्षेत्र में दृष्टिकोण (Point of view) का स्थान बड़ा ही महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य-सा है। दृष्टिकोण से तात्पर्य उस विचार से है जिसे सामने रखकर किसी वस्तु का अवलोकन किया जाता है, और जिस विचार की सत्ता उसमें देखी जाती है।

दृष्टिकोण कई रूपों में रखा जा सकता है, अतएव इसके आधार पर आलोचना के भी कई रूप हो सकते हैं। एक ही वस्तु भिन्न भिन्न प्रकार के दृष्टिकोण के साथ देखी जा सकती है और उसी प्रकार भिन्न भिन्न प्रकार से प्रकट भी

की जा सकती है। उदाहरण के लिए हम तुलसीकृत रामायण ले सकते हैं। इस ग्रंथ-रत्न को धार्मिक, नैतिक, सामाजिक एवं साहित्यिक कई दृष्टिकोणों के आधार पर कई प्रकार से देख सकते हैं और उसकी तदनुसार आलोचना भी कर सकते हैं।

जिस प्रकार आलोचक अपना एक दृष्टिकोण रखता या रख सकता है उसी प्रकार कवि या लेखक भी अपनी रचना के लिए एक विशेष दृष्टिकोण रखता है। हाँ, अन्तर यह है कि कवि या लेखक को एक दृष्टिकोण निश्चित कर लेना तथा उसी का समस्त रचना में परिपालन करना अनिवार्य-रूप से आवश्यक होता है, उसे ऐसा करने के लिए बाध्य ही होना पड़ता है (अन्यथा उसकी रचना में एकता (Unity)*

---

* कुछ विद्वानों का मत है कि एकता (Unity) ही रचना की आत्मा है, यह एकता रचना के सभी अंगों या तत्त्वों में होनी चाहिए। मुख्यतया रचना-वस्तु (Subject matter or substance) या विषय, भाषा, शैली में तो एकता का रखना अनिवार्य ही है। कभी कभी एकता से तात्पर्य होता है लेखक या रचयिता की सुरुचि का। सुरुचि भी प्रत्येक लेखक और आलोचक के लिए बहुत आवश्यक क्या अनिवार्य ही है। रचना-सौंदर्य वास्तव में सुरुचि के ही अधीन है। यदि रचयिता में सुरुचि है तो वह अपनी रचना के लिए रुचिर और रोचक वस्तु ही चुनेगा, उसमें सभी प्रकार की सुन्दरता और रुचिकर विशेषतायें देखकर रुचिर भाषा और शैली में व्यक्त करेगा। यदि ऐसा नहीं है तो रचना वास्तव में कितने ही सुयोग्य, और अभ्यस्त लेखक की क्यों न हो रुचिर और रोचक नहीं हो सकती।

जिसका रहना रचना में अनिवार्य है, का अभाव हो जायगा, किन्तु आलोचक इस प्रकार एक दृष्टिकोण के रखने के लिए नितान्त बाध्य नहीं। वह कई दृष्टिकोणों से अपनी आलोचना को ले जा सकता है, और उसको भिन्न भिन्न दृष्टि-कोणों के आधार पर विभक्त कर सकता है। आलोचना के अन्त में उन सबका संश्लेषण करते हुए वह व्यापक रूप से उन पर विचार करके स्वमत प्रकट कर सकता है।

आलोचक के लिए जिस प्रकार आलोचना करने से पूर्व अपना एक दृष्टिकोण निश्चित करना आवश्यक होता है उसी प्रकार उसके लिए आलोच्य वस्तु के रचयिता के भी दृष्टिकोण का यथोचित परिचय प्राप्त कर लेना उचित ठहरता है। साथ ही उसे उस दृष्टिकोण को सदैव सम्मुख रखना और उस पर पूर्णरूप से ध्यान रखना भी आवश्यक होता है।

सुरुचि (Good taste) आधारित रहती है प्रायः देश-काल की सभ्यता, संस्कृति (Civilisation & Culture) पर, अस्तु यह इन्हीं के रूपान्तरों या परिवर्तनों के साथ रूपान्तरित और परिवर्तित भी होती रहती है। इसलिए सुरुचि को तर्कशक्ति (Reasoning), सत्यता या स्वाभाविकता (Reality & naturality), तथा परम्परा (Convention), पद्धति (Tendency), सद्भाव और सद्भावना (Good-sense & good feeling) आदि के द्वारा नियन्त्रित और संयत रखना चाहिए। यह रचयिता और आलोचक दोनों का कर्तव्य है।

प्रायः आलोचक के लिए यही अच्छा होता है कि वह किसी आलोच्य वस्तु की आलोचना करने के लिए अपने एक निश्चित दृष्टिकोण की अपेक्षा रचयिता के ही दृष्टिकोण को अपना ले और उसी के अनुकूल आलोच्य वस्तु का सम्यक् अवलोकन कर अपना मत निश्चित करे। इसका एक मुख्य कारण यह है कि कभी कभी रचयिता और आलोचक के दृष्टिकोणों में ऐसा अन्तर रहता है कि उसके कारण आलोचक अपने पथ से अन्यत्र जाकर भटक या बहक जा सकता है और आलोच्य वस्तु को असफल रचना कह सकता है यद्यपि वह रचयिता के दृष्टिकोणानुसार देखो जाने पर सर्वथा सफल रचना ठहरती है। कभी कभी इसके विपरीत भी होता या हो सकता है। अस्तु प्रथम आलोचक को अपनी आलोच्य वस्तु या रचना को देखकर रचयिता के ही दृष्टिकोण के अनुसार उस पर विचार करना चाहिए, और इसके उपरान्त ही अपने दृष्टिकोण के आधार पर उसका आलोचन करना चाहिए, ऐसा करते हुए उसे यह भी देख लेना चाहिए कि उसके और रचयिता के दृष्टिकोणों में कहाँ तक साम्य या वैषम्य है। दोनों में पूर्ण साम्य होने पर आलोचना पूरी और सच्ची होती है, अन्यथा दोनों में वैषम्य या अन्तर के होने पर आलोचना अधूरी और आंशिक या पूर्णरूप में सत्यासत्य हो सकती है, अथवा आलोचना के संदिग्ध या संशयात्मक हो जाने की आशंका रहती है।

आलोचक अपना ऐसा दृष्टिकोण अवश्य रख सकता है जो या तो रचयिता के दृष्टिकोण का सहयोगी, सहचर, आश्रित या सहकारी हो या उसके किसी रूप में अपना कुछ विशेष सम्बन्ध रखता हो, या उसके साथ व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध रखता हो अथवा दोनों दृष्टिकोण एक दूसरे के अन्तर्भूत से हों। ऐसी दशा में एक का दूसरे के साथ सामञ्जस्य हो सकेगा और समालोचना भी इसी लिए उपयुक्त हो सकेगी।

किसी बड़े विस्तृत एवं व्यापक क्षेत्र या विषय से सम्बन्ध रखनेवाली रचना की आलोचना में आलोचक अपना कोई भी ऐसा दृष्टिकोण रख सकता है जिसकी सत्ता एवं महत्ता उसमें अवश्यम्भावी सी ठहरती है। तुलसीदास के मानस की आलोचना में आलोचक चाहे अपना दृष्टिकोण धार्मिक रूप में रक्खे, या सामाजिक या दार्शनिक रूप में, वह उसमें अवश्यमेव घटित या चरितार्थ हो सकेगा, क्योंकि मानस का क्षेत्र सर्वथा विस्तृत एवं व्यापक-सा है।

कभी कभी आलोचक अपने तथा रचयिता दोनों के दृष्टिकोणों को छोड़ कर उस दृष्टिकोण से आलोच्य रचना की आलोचना करता है, जिस दृष्टिकोण से, उसकी समझ में वह रचना व्यापक या साधारण रूप से सर्वसाधारण जनता के द्वारा देखी जा सकती है। ऐसे दृष्टिकोण के निश्चित करने में आलोचक को बहुत सजग और सतर्क रहने की आवश्यकता है, उसे अपने

को जनता की रुचि, मनोवृत्ति आदि से पूर्णतया परिचित कर लेना अनिवार्य होता है। इसके साथ ही उसे उस समय के देश-समाज का भी पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक हो जाता है जिस समय, देश या समाज में या जिस समय और समाज के लिए वह रचना रची गई है। एतदर्थ उसे देश-काल की संस्कृति (Culture) एवं सभ्यतादि (Civilisation) का यथोचित अध्ययन करना चाहिए और अपने लौकिक ज्ञानानुभव के क्षेत्र को विस्तृत करना चाहिए।

आलोच्य रचना के रचयिता के दृष्टिकोण को देखते हुए उसके रचनोद्देश्य को भी देखना चाहिए। कभी कभी तो दृष्टिकोण और उद्देश्य दोनों का एकीकरण हो जाता है और दोनों एक दूसरे में सर्वथा सन्निहित से रहते हैं, किन्तु प्राय: ये दोनों पृथक् पृथक् और स्वतंत्र ही रहा करते हैं। दृष्टिकोण तो वहीं और वहाँ तक ही काम करता है जहाँ रचयिता अपनी रचना का निरीक्षण या अनुभव करता है, वह स्वतंत्र रहता है कि अपनी रचना-वस्तु अथवा अपने रचना-विषय को किसी भी दृष्टिकोण के साथ देखे, समझे और अनुभवित करे। तदनन्तर उस वस्तु या विषय पर रचना करने के लिए वह अपना एक विशेष उद्देश्य, जिसकी पूर्ति का होना वह अपनी रचना से सर्वथा संभाव्य समझता है, निश्चित कर ले और रचना में आद्योपान्त उसी के निर्वाह करने का यथोचित प्रयास करे। आलोचक को

इन दोनों ही पर ध्यान देना चाहिए और तब अपने दृष्टि-कोण का निश्चय करना चाहिए।

दृष्टिकोण के साथ ही आलोचक को अपनी रुचि का भी आलोच्य रचना के रचयिता की रुचि के साथ मिलान करते हुए उस रचना के देखने और समझने के लिए यथासाध्य अपनी रुचि को रचयिता की रुचि के आधार पर यथोचित रूप से परिष्कृत या परिमार्जित कर लेना चाहिए, क्योंकि रुचि-साम्य के बिना भी आलोचना यथोचित, निष्पक्ष, सत्य और शिष्ट न हो सकेगी। रुचि-पार्थक्य के कारण आलोचना सदोष और विवाद-ग्रस्त हो सकती है। यदि रचयिता और आलोचक दोनों की सुरुचियों में पार्थक्य का होना अनिवार्य ही ठहरता हो और आलोचक उसके दूर करने में सर्वथा अशक्त एवं असहाय सा हो तब उसे रचयिता और अपने दोनों के देश-काल, सभ्यता-संस्कृति आदि से सम्बन्ध रखनेवाले अन्तर को तुलनात्मक दृष्टि से निश्चित कर उसे थोड़े समय के लिए ऐसे स्थान में छोड़ देना चाहिए जहाँ से वह उस पर अनीप्सित, और अनिष्टकारी या अनुपयुक्त प्रभाव न डाल सके और उसके निर्णय-सम्बन्धी विचारों को दूषित न बना सके, यह प्रत्येक सत्समालोचक के लिए अत्यावश्यक है।

इसी प्रकार आलोचक को अपने, अपनी आलोच्य रचना और उसके रचयिता के देश-काल की सुरुचियों पर तुलनात्मक रूप से विचार करके अपना कार्य करना चाहिए।

आलोचना का ऐतिहासिक विकास

प्रारम्भ

मानव-प्रकृति की विविध प्रवृत्तियों में से दो प्रवृत्तियाँ प्रधान और प्रबलतर हैं। प्रथम प्रवृत्ति वह है जिसे सौंदर्य-प्रियता कहा जाता है और जिसकी ही प्रेरणा से मनुष्य सर्वत्र सुन्दरता की खोज करता है और सुन्दर वस्तुओं में लीन होकर आनंद प्राप्त करता है। सौंदर्योपासन उसका कर्तव्य एवं स्वभाव सा हो जाता है। द्वितीय प्रवृत्ति वह है जिसके प्रभाव से मनुष्य अपने और दूसरों के विचारों, भावों, भावनाओं आदि के जानने और प्रकट करने के लिए प्रयत्न करता है और इंगित चेष्टा एवं भाषादि साधनों के द्वारा उन्हें प्रकाशित करता है। इस मनोवृत्ति को आत्माभिव्यंजना की संज्ञा दी गई है।

जब मनुष्य किसी पदार्थ को देखता या सुनता है और उसमें उसे सौंदर्यानन्द प्राप्त होता है तब उस पदार्थ के सम्बन्ध में उसके भाव उठने लगते हैं, वह उस पदार्थ के प्रति प्रेम एवं अनुराग करने लगता है, उसकी धारणा उसके सम्बन्ध में अच्छी हो जाती है। बस वह उस पदार्थ की प्रशंसा या सराहना करने लगता है और अपने मानसिक भावों को दूसरों पर प्रकट करता है। विपरीत इसके जब वह किसी सौंदर्यहीन

वस्तु को देखता है और उसमें उसके प्रति घृणा आदि के भाव उठते हैं तब वह उस पदार्थ की निंदा करने लगता है। यही मानों उसकी उस पदार्थ के विषय में आलोचना है।

यहाँ यह देखा जा सकता है कि वास्तव में उक्त दोनों मनोवृत्तियों के ही प्रभाव से हम किसी की आलोचना करते हैं। किन्तु, इन मनोवृत्तियों के साथ ही हमारी तर्कनाशक्ति एवं निर्णयात्मिका विवेकशक्ति भी कार्य करती है। अस्तु, हम कह सकते हैं कि समालोचना का सम्बन्ध उक्त प्रमुख मनोवृत्तियों एवं शक्तियों से ही है।

यह भी स्पष्ट ही है कि समालोचना की उत्पत्ति उसी समय से है जब से मनुष्य एवं उसकी इन मनोवृत्तियों और शक्तियों की समालोचना-व्यापार मनुष्य का स्वभाव या प्रकृति-जन्य गुण है। अतएव इसके समय का निर्णय नहीं हो सकता।

अच्छे या बुरे पदार्थों या विषयों का अवलोकन करते हुए मनुष्य सबसे प्रथम उनके गुणों या सौंदर्यानंदकारक विशेषताओं या रोचक धर्मों पर दृष्टि डालता है, साथ ही वह उनके उन दोषों पर भी ध्यान देता जाता है जिनके कारण उनके सौंदर्य पर आघात पहुँचता है। इस प्रकार गुणों और दोषों पर दृष्टिपात कर लेने पर वह दोनों का विश्लेषण या पृथक्करण करता है और इसके पश्चात् गुण-दोष-विवेचन कर सतर्क अपना मत उन पदार्थों या विषयों के सम्बन्ध में प्रकाशित करता है।

इस स्वाभाविक प्रक्रिया पर विचार करने से ज्ञात होता है कि समालोचना कला का प्रारंभ गुण-दोष-विवेचन के ही रूप में प्रथम हुआ होगा। जितनी भी कलाएँ (ललित) हैं उन सबके कौशल कार्य का आलोचन इसी रूप में अब तक होता चला आ रहा है।

चित्र-कला को ही ले लीजिए—प्रत्येक सहृदय और सौन्दर्य्योपासक किसी भी चित्र को देखकर स्वभावत: ही उसके गुण-दोष जिनके कारण वह उसे रुचिकर या अरुचिकर प्रतीत होता है कुछ न कुछ अवश्यमेव कह सकता है और उसके अच्छे या बुरे होने के सम्बन्ध में अपना निर्णय प्रकट कर सकता है।

जिन कलाओं को शास्त्रीय पद्धति से सुव्यवस्थित एवं विविध नियमों से नियंत्रित कर दिया गया है और जो कलाएँ अपने शास्त्रों के नियमानुसार चलती या चलाई जाती हैं उनके कौशल-कार्य की आलोचना प्राय: उनके शास्त्रों के ही नियमों के अनुसार की जाती है क्योंकि उन नियमों का यथोचित परिपालन उनमें कलाकार के द्वारा किया जाता है और यह आशा की जाती है कि कलाकार ने उन नियमों का यथोचित उपयोग किया होगा। ऐसा करने में उसे जहाँ तक सफलता या असफलता मिलती है उसका निर्णय एक वह सहृदय आलोचक ही कर सकता है जिसे उस कला के शास्त्रीय सिद्धान्तों या नियमों का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त है। यदि आलोचक

उस कला के प्रयोगात्मक-रूप से परिचित है तो वह अपने आलोचन-कार्य्य में और भी अधिक सफल होता है।

इस व्यापक विचार के अनन्तर हम जब साहित्य और उसकी आलोचना की ओर आते हैं तो हम देखते हैं कि गुण-दोष-विवेचनात्मक रूप ही हमें सबसे प्रथम प्राप्त होता है। यह लिखा जा चुका है कि प्राय: प्रत्येक भाषा के आदि-काल में साहित्य काव्यमय ही मिलता है। यही बात संस्कृत-भाषा के साहित्य में भी देखी जाती है। यह भी कहा जा चुका है कि साहित्य शब्द का प्रयोग प्रथम काव्य के ही अर्थ में किया जाता था और अब तक भी बहुधा किया जाता है। अस्तु साहित्य की आलोचना से तात्पर्य्य हमारा मुख्यतया काव्य की ही आलोचना से है।

संस्कृत-साहित्य का सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ 'वेद' है, जो ईश्वरीय ज्ञान और दैवी उत्पत्ति रखता है। इसलिए यद्यपि वह काव्यमय है, साहित्य (काव्य) के अन्तर्गत न माना जाकर समालोचित नहीं हुआ। यह अवश्य है कि उसका समावलोकन (Review) किया गया है और उसके भिन्न भिन्न अंगों की विवेचना भाष्य के रूप में की गई है। इसी प्रकार उपनिषदों और शास्त्रों आदि का भी समावलोकन टीका-टिप्पणी, भाष्यादि के रूप में किया गया है।

जैसी जनश्रुति है—संस्कृत-काव्य का जन्म महर्षि वाल्मीकि से हुआ है। वे ही आदि-कवि और उनका रामायण नामक ग्रन्थ

ही आदि-काव्य माना गया है। वाल्मीकि के पहले और कोई भी कवि नहीं हुआ—राजशेखर ने काव्य-पुरुष की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो कथा लिखी है उसके अनुसार भी वाल्मीकि ही आदि-कवि ठहरते हैं। अब इससे यह सिद्ध होता है कि वाल्मीकि के प्रथम न तो किसी ने काव्य ही लिखा था और न काव्य-शास्त्र का ही प्रणयन किया था। काव्य के जन्म और विकास के पश्चात् ही उसके सुन्दर गुणों को चुनकर तथा तदनुकूल काव्य अथवा सत्काव्य के सिद्धान्तों, नियमों आदि की कल्पना करके काव्य-मर्मज्ञों ने काव्य-शास्त्र की रचना की और इस प्रकार काव्य-कला के अनन्तर काव्य-शास्त्र का जन्म हुआ।

इससे यह स्पष्ट है कि विद्वानों ने वाल्मीकीय रामायण तथा कुछ अन्य सत्काव्यों का प्रथम साङ्गोपाङ्ग अध्ययन और अवलोकन किया और जिन बातों से उनमें चमत्कार-चारुता, सुन्दरता और मधुरता आदि आई थी उन विशेषताओं को उन्होंने चुनकर अलङ्कार, गुण-रीति आदि के रूपों में रखकर काव्य-शास्त्र तैयार कर दिया। इसी के साथ जिन बातों से काव्यों में अरोचकता आदि आ गई थी उनको भी पृथक् करके दोषों के रूप में रख दिया। इसलिए हम कह सकते हैं कि काव्य-शास्त्र के रचयिता ही समालोचक और उनका वह शास्त्रीय कार्य ही समालोचन-कार्य था, जो आगे काव्य-शास्त्र के रूप में परिवर्तित हो गया।

ज्यों ज्यों कवियों और काव्यों का विकास एवं विवर्धन होता गया त्यों ही त्यों कुछ काल तक प्रथम काव्य-शास्त्र का भी विकास उसी के आधार पर हुआ। अर्थात् कवियों की नवीन विशेषताओं अथवा काव्य-कला के कौशल से सम्बन्ध रखनेवाले नये चातुर्य्य-चमत्कारों के आधार पर काव्य के गुणों (Characteristics) अथवा विशेषताओं में भी नवीनता आती गई और अलङ्कारों आदि की वृद्धि होती गई। इसी समय से, जब काव्य-शास्त्र पूर्णता के समीप पहुँच चुका था, दूसरे प्रकार की पद्धति का प्रारम्भ हुआ। यह नवीन पद्धति पूर्वपद्धति के ठीक विलोम रूप में प्रचलित हुई। प्रथम तो काव्य और कवियों को प्रधानता दी जाती थी और इनके ही आधार पर काव्यशास्त्र को समाधारित किया जाता था और उसे गौण स्थान दिया जाता था किन्तु इस नवीन परिपाटी के प्रभाव से काव्य-शास्त्र को ही प्रधानता दी जाने लगी और कवि और उनके काव्य इसी के नियमों या सिद्धान्तों पर आधारित किये जाने लगे। कवियों को काव्य-रचना के करने में काव्य-शास्त्र का ही पूर्ण पालन करना अनिवार्य हो गया।

इस प्रकार कवियों और काव्यों का स्थान गौण ही सा हो गया। केवल महाकवियों में से कुछ ही परम प्रशस्त महानुभाव काव्य-शास्त्र के नियमों के अतिरिक्त कुछ नवीन विशेषताओं के साथ अपने स्वातंत्र्य को प्रकट करने के अधिकारी रह गये और "निरंकुशाः कवयः" सम्बन्धी उक्ति को चरितार्थ

करने में क्षम एवं समर्थ हो सके। कवि-स्वातंत्र्य की एक प्रकार से इतिश्री सी हो गई। सारांश यह है कि इस पद्धति के कारण कवि काव्यशास्त्र के निर्दिष्ट मार्ग पर ही चलने में बाध्य हो गये।

कुछ काल के उपरान्त इस पद्धति को इतनी प्रबलता प्राप्त हो गई कि कवियों का रहा-सहा स्वातंत्र्य भी चला गया, और उनका कवि-कर्म केवल काव्य-शास्त्र के नियमों (अलंकारादि) को स्पष्ट करने के लिए उदाहरणों की रचना करने में ही सीमित हो गया। प्रथम कवि और काव्य-मर्मज्ञ या काव्य-शास्त्रज्ञ दो पृथक् व्यक्ति होते थे, और काव्य की रचना करना तथा उसकी समालोचना करते हुए काव्य के मर्मों की गवेषणा एवं वैज्ञानिक विवेचना करना और इस प्रकार काव्य-शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करते हुए, उसका परिमार्जन, एवं परिवर्धन करना दो स्वतन्त्र एवं पृथक् मार्ग थे।

दूसरी पद्धति के प्राधान्य-प्राबल्य-काल के पूर्वार्ध में दोनों कार्य-पथों का एकीकरण सा किया गया, अर्थात् एक ही व्यक्ति कवि और काव्यशास्त्रज्ञ भी होने लगा, किन्तु अनिवार्य रूप से नहीं। काव्य-कला-कुशल कवि के लिए काव्य-शास्त्र का पूर्ण परिचय प्राप्त करके उसमें भी पटुता प्राप्त करना आवश्यक-सा माना जाने लगा, और उत्तरार्ध काल में काव्यशास्त्र का मर्मज्ञ होना अनिवार्य हो हो गया। काव्यशास्त्रस्नात व्यक्ति ही कवि-कर्म (काव्य-कला) का अधिकारी हो सकने

लगा। काव्यशास्त्र का सांगोपांग अध्ययन कर लेने पर ही कवि होनेवाले व्यक्ति को काव्य-कला में हाथ लगाने या काव्य-रचना करने का अधिकार दिया जाने लगा। इसका फल यह हुआ कि पंडित कवियों एवं पांडित्यपूर्ण काव्यों की प्रधानता और प्रबलता हो चली। ऐसे ही कवि अपने काव्य-कला-कौशल-सम्बन्धी स्वातंत्र्य को काव्यशास्त्र के द्वारा सीमित या निर्दिष्ट किये गये क्षेत्र एवं मार्ग में प्रकट करने को बाध्य हुए। अस्तु; केवल विद्वान् ही इस दुस्तर कार्य में प्रशस्त सफलता प्राप्त करने में क्षम एवं समर्थ हो सके।

इसके परिणाम-स्वरूप में भाव, भाव-भंगियाँ, काव्य-कलाकौशल (वैचित्र्य-पूर्ण कौतुक-कौतूहल) तथा भाव-गांभीर्यादि गुणयुक्त पद-रचना-रीति आदि में विचक्षण एवं विलक्षण चातुर्य-चमत्कारपूर्ण विकास हुआ। पंडितों एवं कवियों ने काव्य-कानन के कोने कोने देख और कह डाले। भावों, भावनाओं एवं काव्य-कौशल के समस्त क्षेत्र या मार्ग इनके अनवरत और अथक अध्यवसाय से अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच गये, अग्रिम कवियों और पंडितों के लिए नवीन क्षेत्र या मार्ग को खोज कर उपस्थित करना तथा मौलिकता का प्रकट करना अगर असंभव नहीं तो दुस्साध्य अवश्य ही हो गया।

अस्तु आगे पंडितों ने काव्य के मर्मों तथा कला-कौशल की नवीन विशेषताओं की गवेषणा और विवेचनालोचना और कवि नवीन तथा मौलिक काव्यों को रचना करने में असमर्थ से

ही रहे, वे केवल टीका और भाष्य लिखने तथा भावापहरणादि करके पिष्टपेषण सा करने में बाध्य से हुए।

यहाँ यह कहना भी असंगत न होगा कि द्वितीय पद्धति के प्रभाव से सत्कवियों के सत्काव्यों का पूर्ण रूप से अवलोकन करके उनकी आलोचना करते हुए काव्य के मर्मों तथा कला-कौशल-सम्बन्धी रुचिर विशेषताओं अथवा चातुर्य-चमत्कार-पूर्ण विधानों की खोज करके उनकी विवेचनालोचना करने का मार्ग भी बंद सा हो गया, जिससे समालोचना-कार्य को भी बहुत कुछ धक्का पहुँचा। समालोचना करने के अधिकारी काव्य-मर्मज्ञ विद्वान् अब कवि-कर्म में निरत हो चले और केवल उदाहरण-रूप में अपना काव्य-कौशल दिखाने लगे।

निष्कर्ष यह है कि इस पद्धति के प्रचार से काव्य-कला की स्वतंत्र प्रगति तथा काव्यालोचन की परिपाटी बंद सी हो गई।

यहाँ यह भी कहना उचित जान पड़ता है कि जिस प्रकार काव्य-शास्त्र का विकास-प्रकाश हुआ है उसी प्रकार काव्य से सम्बन्ध रखनेवाले छंदः-शास्त्र या पिंगल का भी शनैः शनैः वाल्मीकि-काल से विकास-विवर्धन हुआ है।

यदि काव्य और काव्य-शास्त्र की विकास-प्रगति का निरीक्षण तनिक ध्यानपूर्वक किया जाय तो ज्ञात होता है कि काव्य और काव्य-शास्त्र दोनों का विवर्धन विकास-वाद के ही सिद्धान्तानुसार हुआ है। दोनों साधारण सरलता

(Simplicity) से गूढ़ता और जटिलता (Complexity) की ओर प्रगतिशील हुए हैं। दोनों सूक्ष्मता से गहनता की ओर आये हैं, दोनों में प्रथम स्वाभाविकता और स्पष्टता का ही प्राधान्य रहा है और फिर उनमें उत्तरोत्तर चमत्कार-चातुर्य-पूर्ण कला-कौशल और क्लिष्टता की वृद्धि हुई है तथा पांडित्य-प्रकाशन की प्रधानता होती गई है। यह स्पष्ट हो जाता है जब हम काव्य और काव्य-शास्त्र के प्रारंभिक एवं प्राचीनतर ग्रंथ लेकर उत्तरकालीन ग्रंथों के सामने रखते हैं। वाल्मीकीय रामायण तो सरल, स्वाभाविक और स्पष्ट काव्य का श्रीगणेश है और माघ या शिशुपालवध क्लिष्ट, कला-कौशल-पूर्ण और गूढ़ या गंभीर काव्य का लक्ष्यान्त हैं। इन दोनों के बीच में आनेवाले काव्य-ग्रंथ उत्तरोत्तर क्रमशः कलापूर्ण और गहन होते चले आते हैं।

रघुवंश, कुमारसंभव, किरातार्जुनीय, एवं नैषध आदि भी इस बात के ज्वलंत उदाहरण हैं। तात्पर्य यह है कि काव्य-क्षेत्र में ज्यों ज्यों विकास होता गया त्यों ही त्यों उनके अंगोपांगों अर्थात् भाव, भाषा एवं कवि-कौशल आदि में भी उत्तरोत्तर परिवर्धन होता गया।

जिस प्रकार काव्य और काव्यांगों में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है उसी प्रकार काव्य-शास्त्र एवं उसके अंगोपांगों में भी क्रमशः विकास-विवर्धन होता गया है। प्राचीन काल से लेकर अब तक के काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी ग्रंथ इसकी पुष्टि करने में

सर्वथा क्षम हैं। आचार्य भामा से लेकर पंडितराज जगन्नाथ एवं विश्वनाथजी तक के काव्य-शास्त्रात्मक ग्रंथ सरलता, स्पष्टता एवं स्वाभाविकता की ओर से यथाक्रम गूढ़ता, कला-पूर्ण जटिलता की ही ओर प्रगतिशील हुए हैं। आचार्यों और विद्वानों ने अपने मतमतान्तरों, खंडन-मंडनों एवं विवेचनालोचनाओं के द्वारा इनको गहन बनाने का ही प्रयत्न किया है और तर्क-साहाय्य से वाद-विवाद के द्वारा इन्हें जटिल और दुर्बोध बना दिया है।

यह भी स्पष्ट एवं सिद्ध हो सा है कि जब काव्य-शास्त्र को यथोचित पूर्णता प्राप्त हो गई तब काव्य-निरीक्षकों या आलोचकों को भी अपना मार्ग बदलना पड़ा। प्रथम तो आलोचक काव्य का समावलोकन करके उसकी मार्मिक विशेषतायें ढूँढ़ते और उन्हें आचार्यों के लिए सिद्धान्तों में रूपान्तरित करने को रख देते थे या स्वतः उनके आधार पर काव्य के नियमोपनियमों की कल्पना करते थे। अब चूँकि यह कार्य हो चुका था और काव्य-शास्त्र एक प्रकार से पूर्ण सा हो गया था इसलिए अब आलोचक लोग काव्यशास्त्र का पूर्ण अध्ययन करके उसी के नियमों के अनुसार किसी काव्य की आलोचना करने लगे थे। आलोचन-कार्य से तात्पर्य था किसी पुस्तक को देखना और यह निर्धारित करना कि वह पुस्तक जिस विषय पर लिखी गई है उस विषय के शास्त्रीय सिद्धान्तों का कितना; कैसा और

कहाँ तक पालन करती है। इस कार्य में लेखक को कहाँ तक सफलता मिली है।

यदि इससे भी अधिक किसी आलोचक ने कार्य किया तो वह केवल यही प्रकट करता था कि शास्त्रीय नियमों का यथोचित परिपालन करता हुआ लेखक या कवि कहाँ तक अपने व्यक्ति-स्वातंत्र्य का परिचय देने में समर्थ हुआ है और इस प्रकार करते हुए वह कहाँ तक सीमा या मर्यादा के अंदर रह सका है, समस्त दोषों को बचाता हुआ वह कहाँ तक अपनी रचना को गुणयुक्त बना सका है। ऐसा करते हुए आलोचक कभी कभी कुछ विवेचना भी कर देता था।

यह स्मरणीय है कि आलोचक का आलोचन - कार्य टीकाकारों या भाष्यकारों के टीकन या टिप्पण कार्य से सर्वथा भिन्न था। दोनों के क्षेत्र भी अलग अलग थे। किसी ग्रंथ या पुस्तक को सम्यक् रूप से स्पष्ट एवं सुबोध करना और उसके वर्णित विषय का विवेचन करना टीकाकार या भाष्यकार का कार्य था। इस कार्य के साथ ही वह लेखक या कवि की किसी रचना को महत्त्व एवं गौरव प्रदान करने का भी यथाशक्ति प्रयत्न करता था और उसके उन दोषों का परिहार करने की भी चेष्टा करता था जो सकारण और बाध्य होने से आ गये हैं। हाँ उन दोषों की ओर वह अंगुल्यानिर्देश अवश्य कर सकता या देता था जो सर्वथा अक्षम्य और निवारणीय होते हुए भी निवारित न किये गये

थे। यदि उसने चाहा तो रचना के गुणों पर भी यथेष्ट प्रकाश डाल देता था। किन्तु गुण-दोष-विवेचन-कार्य प्रायः समालोचक के ही लिए छोड़ दिया जाता था।

अब यहीं यह भी कह देना समीचीन है कि संभवतः समालोचन-कार्य के केन्द्र प्राचीन समय में, प्रायः वहीं होते थे जहाँ—१—विद्याध्ययन या पठन-पाठन का कार्य होता था या जहाँ विश्वविद्यालय या विद्यालय होते थे और इस प्रकार जहाँ विद्या के केन्द्र थे। २—राज-दरबार थे और उनमें राजा के साथ पंडित-सभा होती थी। लेखकों या कवियों की रचनाओं का समालोचन यहीं होता था, और जब आलोचना की कसौटी पर कसी जाकर रचनायें परख ली जाती थीं तब उनको साहित्य-श्रेणी में स्थान दिया जाता था, अर्थात् उनको उत्तम, मध्यम एवं निकृष्ट कोटि में से किसी में ठहराया जाता था, इसके उपरान्त ही लेखक या कवि को उस रचना पर यथोचित पुरस्कार राजा की ओर से दिया जाता था।* इस प्रकार की आलोचनापद्धति या कवि-काव्य-परीक्षा की प्रणाली यहाँ न्यूनाधिक रूप में महाराष्ट्र पेशवाओं के समय तक प्रचलित रही है। मुग़ल-दर्बार में भी कवियों और उनके काव्यों का

---

* इस सम्बन्ध में देखिए महामहोपाध्याय डा० गंगानाथ झा कृत "कविरहस्य" पृ० ७१-७५ या कविवर क्षेमेन्द्रकृत "कविकंठाभरण"—यह ग्रंथ १००० वर्ष प्राचीन माना जाता है।—संपादक

यथोचित रूप से विचार किया जाता तथा उन्हें सम्मान प्रदान किया जाता था। राजाओं-महाराजाओं के अतिरिक्त बड़े बड़े धनी-मानी व्यक्ति भी पंडित-सभा कराते और अच्छे कवियों की रचनाओं पर उनकी यथेष्ट आलोचना हो जाने के पश्चात् पुरस्कार देते थे। अकबर, वीरबल, आदि के सम्बन्ध में इस प्रकार की कतिपय कथायें कही जाती हैं। भोजराज आदि प्राचीन क्षत्रिय-नरेश तो कवि-काव्य-गुणग्राही और उदार दानी प्रसिद्ध ही हैं।

विद्या-केन्द्रों में आचार्य एवं अध्यापक लोग भी आलोचन-कार्य करते थे, यद्यपि उनका प्रधान कार्य टीका-टिप्पणी आदि का लिखना ही था। इनके अतिरिक्त जो विद्याव्रतस्नात शास्त्रमर्मज्ञ लोग होते थे वे भी आलोचनकार्य किया करते थे। ऐसे ही प्रकांड पंडितों के पास लेखक या कवि अपनी रचनायें ले जाते थे, और वे उनके गुण-दोष प्रकट कर दिया करते और दोषों के दूर करने तथा उनके परिहार की उचित सलाह दे दिया करते थे। कवि या लेखक इसी लिए उन्हें अपनी रचनायें दिखाते थे, जिनसे उनके वे दोष, जो उन्हें नहीं जान पड़ते, ज्ञात हो जायँ और वे उनका सुधार कर सकें। क्योंकि दूसरे को दोष खूब दिखलाई पड़ते हैं, अपने को नहीं—

"निज कवित्त केहि लाग न नीका;
सरस होय अथवा अति फीका।"

ऐसे ही आलोचक पंडितों को कवि लोग अपना आचार्य

मानते थे। ये लोग वास्तव में बड़े ही सहृदय (भावुक) और उदार होते थे। प्रायः ये लोग कवि या लेखक ही होते थे और इसी लिए उचित सलाह भी दे सकते थे।

इस प्रकार के आलोचकों एवं आलोचना-केन्द्रों के अतिरिक्त लेखकों या कवियों की रचनाओं का आलोचन जनता में भी होता था। सहृदय एवं साहित्यप्रेमी लोग इसमें भाग लेते थे, और आलोचना करके किसी कवि या लेखक का साहित्य-क्षेत्र में स्थान निश्चित करते थे। यह कहना यहाँ आवश्यक है कि किसी कवि या लेखक की रचना की इस प्रकार तीन बार पृथक् पृथक् स्थानों या सभाओं में पृथक् पृथक् प्रकार के सहृदय लोगों के द्वारा आलोचना होती थी, तब कहीं उसका स्थान साहित्य-क्षेत्र में पूर्णतया निर्धारित होता था। इन तीन स्थानों में आलोचना होने की आवश्यकता इसी लिए थी चूँकि प्रत्येक कवि या लेखक की रचना राजाओं, धनी-मानी लोगों, विद्वानों एवं साधारण लोगों सभी से सम्बन्ध रखती है और सब उसे देखने या पढ़ने-सुनने के अधिकारी हैं उसका प्रभाव सब पर कुछ न कुछ अवश्य पड़ता है। सभी उसे अपने अपने दृष्टिकोण से देखते हैं। अस्तु वही रचना सर्वोत्तम मानी जाती है जिसकी इन सब रूपों में सुन्दर आलोचना हो।*

---

* जनता के द्वारा कवि-काव्यालोचन या परीक्षा के भी विषय में देखिए "कविरहस्य" पृ० ७३।

यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि ज्यों ज्यों काव्य-कला की वृद्धि एवं समृद्धि हुई है त्यों ही त्यों उसके प्रचार-प्राचुर्य या व्यापकत्व की सीमा भी संकीर्ण होती गई है। इस प्रकार कुछ समय तक तो दो या तीन प्रकार या रूप काव्य-रचना के हो गये थे। प्रथम तो वह था जिसका प्रचार-प्राधान्य केवल विद्वत्समाज एवं सुपठित समाज में ही था, इस प्रकार की रचना उच्च कोटि और शिष्ट साहित्यिक रूप की मानी जाती थी, इसका निर्णय काव्यमर्मज्ञ विद्वान् आलोचक-मंडली करती थी, और इसी प्रकार की रचनाओं का राज-दरबारों में मान-सम्मान होता था।

दूसरे प्रकार की रचना वह थी जिसका प्रचार-प्राबल्य साधारण श्रेणी के लोगों में था, इसमें न तो प्रथम प्रकार की रचना के समान कला-कौशल का ही प्राधान्य या बाहुल्य रहता था और न भावादि का ही गौरव रहता था। इसकी भाषा, भावावली, शैली आदि सभी सरल, सुबोध, और साधारण श्रेणी की ही रहती थी। इसकी ओर विद्वन्मंडली का ध्यान बहुत कम रहता था, हाँ इसका सत्कार साधारण पढ़े-लिखे लोग विशेष करते थे क्योंकि उनके हो योग्य या लिये यह रचना होती भी थी।

तीसरे प्रकार की रचना का सम्बन्ध उस जनता से था जिसमें विद्या की हीनता या न्यूनता ही रहती थी, इसमें साहित्यिक क्षमता का अभाव हो सा रहता था। इसमें भावों, भावनाओं आदि का नग्नरूप, रस-तीव्रता, अशिष्टता

और अश्लीलता की भी पुट के साथ, रहता था। इसकी रचना साहित्यिक छन्दात्मक शैली से न की जाकर प्रायः गीतात्मक रीति से ही की जाती थी। इसकी भाषा भी प्रायः ग्रामीण, अस्वच्छ (असंस्कृत) जड़, और भद्दी रहती थी, तथा पदावली अव्यवस्थित सी होती थी। इसकी ओर इसी लिए उच्च श्रेणी के जन और विद्वान् लोग, जिनका समाज शिष्ट एवं सभ्य (सहृदय) समाज कहा जाता था, कुछ भी ध्यान न देते थे।*

साहित्यिक रचना के उक्त उत्कृष्ट एवं साधारण दो रूपों में कुछ सिद्धान्त-भेद भी पाया जाता था। प्रथम में तो कला-

---

* प्रथम हिन्दी-भाषा कुछ काल तक ग्रामीण और असंस्कृत भाषा मानी जाती थी और पंडित लोग उसका उपयोग ही न करते थे या यदि करते भी थे तो बहुत ही कम, वह भी केवल साधारण बोलचाल में ही। साहित्य-क्षेत्र में संस्कृत आदि का ही प्राधान्य एवं प्राचुर्य था। हिन्दी में रचना करना भी पंडित-समाज में आदरणीय न समझा जाता था, और कवि लोग इससे हिचकते से थे, यह दशा तुलसीदास और केशवदास के समय तक न्यूनाधिक रूप में रही है। संस्कृतकाल में प्रथम हिन्दी ही की सी दशा प्राकृत एवं अपभ्रंश की भी थी, बहुत समय के पश्चात् इन्हें साहित्य में स्थान प्राप्त हुआ था, वह भी तब जब इनका बहुत कुछ परिमार्जन आदि हो चुका था और इनका बहुत बड़ा सुन्दर साहित्य स्वतन्त्र रूप से बन गया था। इसके पूर्व तो इन्हें अपढ़ और ग्रामीण लोगों तथा स्त्रियों की घरेलू बोलचाल की भाषा का ही स्थान दिया गया था और नाटकों में इसी रूप में इनका प्रयोग भी होता था।
—लेखक

कौशल (अलंकार, व्यंग्य एवं ध्वनि आदि के साथ पांडित्यपूर्ण वैचित्र्य और चित्रकला) को और दूसरे में साधारणतया रस को प्रधानता दी जाती थी। इसी आधार पर काव्य-शास्त्र के भी क्षेत्र में काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न प्रकार के प्रमुख मत हो गये थे, और नियम जटिल तथा विवादग्रस्त थे। अस्तु इसके कारण आलोचना-पद्धति के भी दो रूप या मार्ग पृथक् से हो गये थे।

साहित्यिक रचनाओं में अति प्रमुख और उत्कृष्ट रचनाओं की आलोचनायें हमें कहीं कहीं पुस्तकों में सूक्ष्मरूप से मिल जाती हैं, टीकाओं या टिप्पणियों के साथ वे कहीं कहीं रख दी गई हैं। साधारण रचनाओं के सम्बन्ध में आलोचनासूचक कुछ दन्तकथायें या केवल अज्ञातनाम आलोचकों के कुछ श्लोक आदि प्राप्त होते हैं। यही बात आगे चलकर हिन्दी-साहित्य की उत्कृष्ट एवं साधारण रचनाओं के भी सम्बन्ध में कही जा सकती है।*

---

* "काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्यं शकुन्तला......
नारीषु रम्भा......कविकालिदासः......
"(दंडिनः) नैषधे पद-लालित्य (भारवेः) किराते त्वर्थगौरवम्।
उपमा कालिदासस्य, माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥"
"तावद् भा भारवेः भाति यावन्माघस्य नोदयः
उदिते तु माघे भारवेः भा रवेरिव।"

इत्यादि, यहाँ उदाहरणरूप में लिये जा सकते हैं और उक्त बात के पोषक प्रमाण हो सकते हैं। इसी प्रकार हिन्दी में भी—

इसी प्रकार यह भी ज्ञात होता है कि तुलनात्मक आलोचना की भी परिपाटी प्राचीन काल से चली है। तुलनात्मक आलोचना के ही द्वारा कालिदास, भारवि, श्रीहर्ष, माघ आदि महाकाव्यकारों के सम्बन्ध में यह उक्ति लोक-व्यापी हुई है।

"नैषधे पद-लालित्यं (दंडिनः पदलालित्यं) किरातेत्वर्थगौरवम्
उपमा कालिदासस्य माघे सन्ति त्रयो गुणाः।"

यही परिपाटी हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में भी चलती रही, इसके प्रौढ़ उदाहरण हैं—

"सूर सूर, तुलसी ससी, उडगन केशवदास।
अब के कवि (?) खद्योतसम, जहँ तहँ करहिं प्रकास॥"

अस्तु, यह तो स्पष्ट ही सा है कि समालोचना का कार्य बहुत प्राचीन काल ही से (अथवा साहित्य के जन्मकाल से ही) प्रारम्भ हुआ है और सदैव ही होता चला आया है। कवियों

"सार रह्यो सो सूरा कहिगा, कविरा कही अनूठी।
रही सही (सो तुलसी) कठमलिया कहिगा, और कही सो झूठी॥

तुलसी-गंग दुवै भये, सुकविन मैं सरदार।......

"और कवि गढ़िया, नंददास जड़िया।"

"व्रजभाषा बरनी कविन, निज निज बुद्धिविलास।
सब सो उत्तम सतसई, करी बिहारीदास।"

"सतसइया के दोहरा, ज्यों नावक के तीर।
देखत में छोटा लगै, घाव करै गंभीर॥"

कवि कहँ देन न चहैं बिदाई, बूझहिं केशव की कविताई॥"

और काव्यों के स्थान साहित्यक्षेत्र में इसी के फलस्वरूप में या इसी के प्रभाव से निर्दिष्ट किये गये हैं। जिस प्रकार कवियों और काव्यों के साधारण और उत्कृष्ट दो मुख्य भेद होते हैं उसी प्रकार समालोचकों के भी। यह भी ज्ञात होता है कि साहित्यिक समालोचना का सम्बन्ध केवल साहित्यिक (उत्कृष्ट) काव्यों नाटकों या महाकाव्यों तथा कवियों या महाकवियों से ही था। साधारण श्रेणी के कवियों एवं काव्यों को साहित्य-क्षेत्र में स्थान न दिया जाता था। उनकी आलोचना भी विद्वत्समाज के द्वारा न की जाती थी, हाँ साधारण जनता अवश्यमेव उनके सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किया करती थी।

यह भी स्मरण रखना चाहिए कि प्रथम किसी कवि या काव्य की आलोचना इस प्रकार कहीं पुस्तक-रूप में कदाचित् लिखी ही न जाती थी, जिस प्रकार अब अँगरेज़ी के प्रभाव से कुछ समय से लिखी जाने लगी है। आलोचना का लिखना, सम्भवतः पाठकों (विद्यार्थियों) के ही सुभीते या सुविधा के लिए चलाया गया है। कवि और काव्य से विद्यार्थियों को सुपरिचित कराना ही इसका मुख्य उद्देश्य रहा है और अद्यापि है। इसके साथ ही इसका यह भी एक दूसरा लक्ष्य जान पड़ता है कि विद्यार्थियों को काव्य-शास्त्र (या अन्य शास्त्र) तथा आलोचना के नियमों या सिद्धान्तों का काव्य या रचना पर घटित करना ज्ञात हो जाये और

वह (काव्य) सुबोध, स्पष्ट तथा सरल हो जाये। वास्तव में इस विचार से लिखी गई आलोचना को आलोचना न कहकर अवलोकन (Review) या प्रदीपिका (Exblanatory) ही कहना चाहिए क्योंकि प्रायः (विशेषतया) इसका कार्य, कवि और काव्य के अंतरंग एवं बहिरंग दोनों पटलों को खोलकर प्रकट कर देना ही होता है। अस्तु वस्तुतः यह कार्य आलोचक का न हो कर टीकाकार का ही हो जाता है। संस्कृत काव्यों के टीकाकारों ने इस प्रकार किया भी है। वास्तविक आलोचना को पुस्तक-रूप में लिखने की परिपाटी प्रथम प्रचलित न थी, और इसी लिए इस प्रकार की पुस्तकें संस्कृत-साहित्य में नहीं पाई जातीं।

काव्य-शास्त्र के पढ़ चुकने पर—इसका पढ़ना साहित्य-जिज्ञासु के लिए अनिवार्य ही था, काव्यों के पूर्व ही कदाचित् काव्यशास्त्र की शिक्षा देना आवश्यक था—प्रत्येक पाठक से यह पूर्ण आशा की जाती थी कि वह उसके आधार पर अपनी विवेकबुद्धि एवं तर्कनाशक्ति से सहायता लेता हुआ किसी भी कवि एवं काव्य की आलोचना करने में सर्वथा समर्थ या क्षम है, अस्तु, उसके लिए आलोचनापूर्ण ग्रंथ अल्पमूल्य के ही ठहरते हैं, यदि उसे काव्य-शास्त्र का यथोचित ज्ञान नहीं तो उसके आधार पर की गई आलोचना भी उसके लिए व्यर्थ ही सी होगी क्योंकि वह उसे ठीक तरह समझ ही न सकेगा। यह भी आलोचना-पूर्ण

ग्रंथों के न लिखे जाने का एक दूसरा कारण कहा जा सकता है।

हिन्दी-साहित्य के भी क्षेत्र में यही बात देखी जाती है। जब संस्कृत में आलोचनापूर्ण ग्रंथ न थे, तब हिन्दी में, जो काव्य और काव्य-शास्त्र के लिए संस्कृत पर ही समाधारित रही है, कैसे इस प्रकार के ग्रंथ हो सकते थे। यदि संस्कृत में ऐसे ग्रंथ होते तो सम्भव था कि हिन्दी में भी वैसे ग्रंथ या उनके अनुवाद रचे जाते।

आलोचनात्मक विचारों के लिखने का प्रारम्भ हिन्दी में कदाचित् "भक्तमाल" के ही समय के आसपास से हुआ है, क्योंकि इसी में भक्त कवियों के सम्बन्ध में यत्र-तत्र कुछ आलोचनात्मक विचार दिये गये हैं। इसके पश्चात् तो किसी भी ग्रंथ में ऐसे विचारों के दर्शन नहीं मिलते। सम्भवतः इसका एक प्रधान कारण यह था कि उस समय हिन्दी में साहित्य-रचना के कार्य को आवश्यक एवं प्रधान माना गया था, और यह ठीक भी था। साहित्य ही जब तक न होगा तब तक आलोचना ही किसकी होगी और आलोचक ही कहाँ से होंगे। हिन्दी को इसी लिए अपना समस्त पूर्व एवं माध्यमिक काल काव्य, काव्यशास्त्र एवं साहित्य के निर्माण करने में ही बिताना पड़ा।

इसी सम्बन्ध में यह भी कहा जा सकता है कि हिन्दी-भाषा, जिसका उपयोग काव्य-रचना ही में विशेषतः किया जा

रहा था, और इसी लिए जिसका काव्योचित रूप अच्छा बन गया था, गद्य में न प्रयुक्त की जाती थी। हिन्दी-गद्य था ही नहीं, यह दूसरी बात है कि काम चलाने के लिए उसमें कुछ पत्र या लेख लिखे जाते थे, किन्तु वास्तव में जिसे साहित्यिक गद्य कहते हैं वह हिन्दी में न था, गद्य और उसकी शैलियों का प्रचार ही न हुआ था, इसी लिए हिन्दी का गद्योचित रूप भी न बन सका था। ब्रजभाषा का, जो उस समय काव्य-साहित्य की एकमात्र सर्वमान्य एवं व्यापक भाषा-सी थी, उपयोग गद्य-रचना के क्षेत्र में कुछ किया अवश्य गया था किन्तु उसे इसी लिए इसमें सफलता न मिली और उसका प्रचार एवं प्राधान्य न हो सका चूँकि उसका रूप काव्योचित ही था और गद्योचित न था। इस कठिनाई के कारण भी आलोचनापूर्ण पुस्तकों की रचना का कार्य न हो सका और भविष्य के लिए ही पड़ा रहा। आलोचनात्मक विचार यदा-कदा और यत्र-तत्र केवल छंदों में ही प्रकट किये जाते रहे।*

अँगरेज़ सरकार, अँगरेज़ी (भाषा और साहित्य) तथा शिक्षाविभाग आदि के कारण हिन्दी (खड़ी बोली) और हिन्दी-

* "तुलसी गंग दुवै भये, सुकविन के सरदार।".........
सूर सूर तुलसी..............................
सार सार तौ कविरा कहिगा..............................
ब्रजभाषा बरनी कविन.....................इत्यादि

साहित्य की ज्यों ज्यों वृद्धि होती गई और धार्मिक, राजनैतिक आदि आन्दोलनों के प्रभाव से हिन्दी गद्य और गद्य-साहित्य का जैसे ही जैसे प्रचार-प्रस्तार होता गया, तथा उनमें वृद्धि और समृद्धि आती गई, समाचारपत्रों और पाठ्य पुस्तकों के प्रभाव से इन्हें ज्यों ज्यों व्यापकता मिलती गई त्यों हो त्यों आलोचना और आलोचनापूर्ण ग्रंथों की भी आवश्यकता बढ़ती गई। धार्मिक खंडनो-मंडनो (जिन्हें स्वामी दयानन्द ने प्रचुरता से प्रचलित किया) के साथ धार्मिक ग्रंथों की आलोचनायें भी होने लगीं, शास्त्रार्थों (विवाद-प्रतिवादों) के कारण आलोचना-शैली भी तैयार होने लगी, और इसी प्रकार की अन्य बातों के प्रभाव से आलोचना की प्रवृत्ति में जाग्रति आ चली, बस साहित्य-क्षेत्र में भो इसका प्रचार-प्राचुर्य आवश्यक या अनिवार्य ठहरने लगा।

हिन्दी-साहित्य में आलोचना

यह एक स्पष्ट बात है कि भाषा एवं साहित्य के प्रचार-प्रवर्धन में समालोचना से बहुत बड़ी सहायता प्राप्त होती है, जनता की रुचि और प्रवृत्ति को समाकृष्ट कर भाषा और साहित्य की ओर लगाना इसका मुख्य कार्य है। इसी के प्रभाव से भाषा और साहित्य के दोष दूर होते तथा उनमें सद्‌गुण आ विराजते हैं, और दोनों निखर तथा बिखर जाते हैं। रचयिताओं और रचनाओं की व्यापकता एवं विशेष

प्रतिष्ठा प्राप्त होती है जिससे कार्यकर्ताओं को प्रोत्साहन प्राप्त होता है। हिन्दी भाषा और उसके साहित्य के प्रचार-प्रवर्धन के लिए, इसी लिए समालोचन-कार्य से सहायता लेना अनिवार्य रूप से आवश्यक हुआ और इसे भी एक प्रमुख साधन के रूप में लेना उचितोपादेय ठहराया गया। जनता को हिन्दी और हिन्दी-साहित्य की ओर आकृष्ट करने के लिए उनके गुणों का दिखलाना ही उपयुक्त हुआ।

इसी के साथ अँगरेज़ी-साहित्य से, जिसमें समालोचनात्मक कार्य प्रचुरता के साथ किया गया है, और जिसके प्रभाव से अँगरेज़ी की ओर लोग शीघ्र आकृष्ट हो जाते हैं, प्रभावित समाज पर, जो हिन्दी और हिन्दी-साहित्य के प्रति इनका यथोचित ज्ञान या परिचय न प्राप्त कर सकने के कारण (क्योंकि हिन्दी को देहाती भाषा कहकर तिरस्कृत कराया जाता था और उर्दू को शरीफ़ों और दफ़्तरों की .ज़ुबान मानकर राजभाषा अँगरेज़ी के साथ अपनाया जाता था) उदासीनता रखता था, मातृभाषा हिन्दी और उसके साहित्य का प्रभाव डालने के लिए भी समालोचना की आवश्यकता हुई।

इसी प्रकार के कुछ अन्य कारणों से हिन्दो में समालोचन-कार्य का प्रचार-प्रस्तार प्राचुर्य के साथ हो चला। समाचार-पत्रों से इसे अपने विकास-विवर्धन में बहुत बड़ी सहायता मिली। पत्रों में समालोचनायें बराबर प्रकाशित होती रहीं और अब भी होती हैं, इससे कई लाभ होते हैं—(१) आलोच्य

न्यायसंगत निर्णय देते हुए स्वमत प्रकाशन पर भी यथेष्ट ध्यान रक्खा। इस प्रकार इन्होंने प्राचीन परिपाटियों को देश-कालानुसार नवीन जीवन प्रदान किया। इन महानुभावों ने इस प्रकार की समालोचनायें प्राचीन महाकवियों एवं उनकी रचनाओं पर लिख कर प्रकाशित कराईं जिससे हिन्दी और हिन्दी-संसार को बहुत बड़ा लाभ हुआ।

यह अवश्य है कि मिश्रबंधुओं ने इस प्रकार की समालोचना के द्वारा जितना प्रकाश आलोच्य वस्तु की बहिरंग बातों (काव्यांगों रस, अलंकारादि, भाषा, एवं परम्परागत ऐसे ही अन्य विषयों) पर डाला है उतना अंतरंग बातों (कृति की अन्तर्वृत्ति, अनुभूतिव्यंजना, मानसिक प्रवृत्ति आदि) पर नहीं डाला। सत्समालोचना के उस प्रारंभिक रूप एवं काल के लिए यही बहुत और बस था। उस समय जनता भी इतनी तैयार न थी कि बहुत उच्च कोटि की गहन या गूढ़ विवेचना तथा मार्मिक आलोचना को अपना सके।

वह समय समालोचना की परिपाटी के परिवर्तन एवं नवरूप ग्रहण करने का काल था अतएव प्राचीन परिपाटी को नितान्तमेव छोड़ना और नये रूप से मार्मिक तथा गूढ़ विवेचना के द्वारा गहन आलोचना करना उपयुक्त न था। यह कार्य मार्ग के स्थिर हो जाने तथा एक पद्धति के पूर्णतया प्रचलित एवं परिचित हो जाने पर ही ठीक होता है, विकास सदा साधारणता से विशेषता की ओर चलता है। हिन्दी-संसार को नये रूप से साहित्य के

गुणदोषादि का परिचय देने तथा सत्काव्य का स्पष्टीकरण कर दिखाने को ही उस समय उपयुक्त और अभीष्ट समझ कर मिश्रबंधुओं ने अपनी समालोचना को उक्त रूप में रक्खा है।

स्व० पं० पद्मसिंह शर्मा ने भी इसी शैली के विकसित रूप में (विहारी-सतसई पर) अपनी प्रसिद्ध आलोचना प्रकाशित कराई। इसमें आपने जो मुख्य विशेषता की वह यह है कि आपने आलोचना को विशेष रूप से तुलनात्मक एवं तारतम्यिक कर दिया और उसमें हास्य एवं व्यंग्य की पुट लगा दी। गुण-प्रदर्शन के साथ ही साथ आपने उर्दू-मुशायरों की महफ़िली दाद (मर्यादा-बाह्य प्रशंसा) भी ख़ूब दी, इस प्रकार उसे कुछ प्रशंसात्मक और कुछ निंदात्मक भी बना दिया। इसी के साथ उन्होंने आलोचना को पक्षपात की चटपटी चटनी से भी कुछ संसिक्त सा कर दिया। अस्तु आलोचना इनकी व्यापक रूप से देखने पर रूढिगत (conventional) ही ठहरती है।

इन्हीं की देखादेखी कुछ अन्य आलोचकों ने भी इसी प्रकार की आलोचनायें प्रकाशित कराईं। इसके फलस्वरूप में एक प्रकार का पक्षपातपूर्ण विवाद सा खड़ा हो गया और खंडन-मंडन की-सी शैली में आलोचनायें होने लगीं, जिनमें व्यर्थ की निंदा और प्रशंसा की मात्रा बढ़ने लगी। किन्तु यह प्रणाली अल्पकाल तक ही रही और विशेषरूप से प्रचलित तथा प्रवर्धित होकर व्यापक न हो सकी। इसके कारण जो अनीप्सित दलादली-सी फैलने लगी उसके प्रति समस्त

शिष्ट एवं विद्वत्समाज के साथ ही साथ जनता ने भी उदासीनता एवं खिन्नता प्रकट की, जिससे इसकी गति रुक गई। इस प्रकार की आलोचनापूर्ण पुस्तकों में से "देवविहारी, विहारीदेव" जैसी पुस्तकें उल्लेखनीय एवं अवलोकनीय हैं।

यहीं पर यह कह देना भो समीचीन जान पड़ता है कि जिस प्रकार लेखों के रूप में किसी पुस्तक की विस्तृत आलोचना करने का प्रारम्भ पं० बदरीनारायण चौधरी ने किया उसी प्रकार पुस्तक के रूप में किसी कवि या लेखक की किसी पुस्तक के गुण-दोषों के प्रदर्शित करने का प्रारम्भ पं० महावीर-प्रसाद द्विवेदी ने किया। इस प्रकार की इनकी प्रथम पुस्तक "हिन्दी कालिदास की आलोचना" है, इसमें रा० ब० लाला सीताराम के अनुवाद किये हुए कालिदास-कृत नाटकों की भाषा आदि के दोष बड़ी बारीकी से दिखलाये गये हैं, और अनुवाद में भी जो भाव-विपर्यय-सम्बन्धी दोष हुए हैं वे भी विस्तारपूर्वक प्रकट किये गये हैं, समस्त पुस्तक में अनुवाद-गत केवल दोष ही दोष दिखलाये गये हैं और गुण नहीं, अस्तु यह एकांगी और दोषप्रदर्शिनी आलोचना ठहरती है।

द्विवेदीजी ने इसी के उपरान्त संस्कृत के कुछ महाकवियों की रचनाओं पर विषय-परिचायक समीक्षायें भी लिखीं—जैसे "विक्रमांकदेव चरितचर्चा", "नैषधचरितचर्चा"—इनमें पंडित-समाज की प्रचलित रूढ़ियों के आधार पर चुने हुए श्लोकों की विशेषताओं का प्रदर्शन और उन पर साधुवाद

तथा साथ ही उनके सम्बन्ध में कुछ विद्वानों के मत भी हैं। भाषा और व्याकरण-सम्बन्धी उन दोषों को, जिन्हें संस्कृत के विद्वान् कालिदास की रचनाओं में बतलाया करते हैं, दिखाते हुए आपने "कालिदास की निरंकुशता" नामक पुस्तक लिखी और यह प्रकट किया कि भाषा की शुद्धता का महत्त्व मान्य है।

द्विवेदीजी ने अव्यवस्थित, असंयत, तथा अशुद्ध भाषा की वृद्धि होते देख भाषा-परिशोधन की हो और विशेष ध्यान दिया और उसमें उनको सफलता भी प्राप्त हुई। उनके प्रभाव से भाषा का अच्छा परिमार्जन एवं परिशोधन हुआ, उसका शुद्ध रूप निखर कर बिखर गया। उस समय वस्तुत: इसकी ही आवश्यकता थी, क्योंकि वह खड़ी बोली के बनने-बिगड़ने का समय था, जब तक भाषा का शुद्ध रूप ही न बन सकेगा तब तक उसमें साहित्य-समीक्षा एवं सत्समालोचनासम्बन्धी उच्च कोटि का कार्य ही ठीक तरह से न हो सकेगा। इसी लिए द्विवेदीजी का यह कार्य सराहनीय है। उत्कृष्ट साहित्य की रचना के लिए साहित्यिक भाषा का शुद्ध, संयत और एक रूप में होना अनिवार्य है।

साहित्य-समीक्षा एवं सत्समालोचना का कार्य द्विवेदीजी संभवत: इसी लिए उस समय न कर सके।

जैसा लिखा जा चुका है, सत्समालोचना एवं साहित्य-समीक्षा (किसी कवि के काव्य को लेकर उस पर आलोचक की दृष्टि से विस्तृत विचार करना और उसकी विशेषतायें प्रकट करना) का श्रीगणेश वास्तव में श्री० मिश्रबंधुओं ने ही किया। उनका

"मिश्रबंधु-विनोद" इस प्रकार का प्रथम ग्रन्थ है। इस ग्रंथ में यद्यपि सत्समालोचना को विशेष प्रधानता नहीं दी गई तथापि उसकी ओर पर्याप्त रूप से संकेत किया गया है। स्थान स्थान पर विशेष विशेष कवियों एवं उनके काव्यों पर आलोचनात्मक प्रकाश डाला गया है। यह ग्रंथ वास्तव में एक परमोपयोगी कवि-इतिवृत्त संग्रह एवं एक साहित्य-विकास-परिचायक इतिहास-मूलक ग्रंथ है।

मिश्रबंधुओं का दूसरा सराहनीय एवं अवलोकनीय ग्रंथ, जिसमें सत्समालोचना को प्रधानता दी गई है "हिन्दी-नवरत्न" है। इसमें हिन्दी-साहित्य के ९ रत्नों अथवा महाकवियों तथा उनके काव्यों पर यथोचित विस्तार से विचार किया गया है। इसमें कवियों और काव्यों की जो मार्मिक आलोचना की गई है, यद्यपि वह सूक्ष्म रूप में ही है तथापि सत्समालोचना की सर्वथा परिचायक है।

यद्यपि कुछ लोग इसकी आलोचना में बहुत कुछ कह चुके हैं और इसमें की गई आलोचना को उचित एवं उपयुक्त अथवा वास्तविक आलोचना नहीं मानते, तथापि हम इसे साहित्य-समालोचना-क्षेत्र में अच्छा सराहनीय स्थान देते हैं और विशेषतया इस विचार से कि यह प्रारम्भिक ग्रंथ है, जिस समय यह लिखा गया था उस समय से अब तक में बहुत कुछ परिवर्तन विचार-धारा, भाषा, आलोचना-शैली आदि में हो गया है। इस परिवर्तित समय के साहित्यिक वायुमंडल के यह सर्वथा अनुकूल न हो, यह दूसरी बात है, किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा

कि इसी ग्रन्थ ने सत्समालोचना की ओर हिन्दी-संसार का ध्यान समाकृष्ट किया है और कवियों एवं काव्यों के आलोचनात्मक अध्ययन का मार्ग दिखलाया है।

कोई भी ग्रंथ इस परिवर्तनशील संसार में सदा के लिए सर्वथा पूर्ण नहीं हो सकता, प्रत्येक विषय में नित्य ही नये नये रूप-रंग से विकास-प्रकाश होता रहता है, ऐसी दशा में प्राचीन ग्रंथ सदा ही पिछड़ जाते हैं, हाँ वे अपना एक विशेष स्थान साहित्य-क्षेत्र में अवश्यमेव रखते हैं। यही बात इस ग्रंथ के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए।

इस ग्रंथ में जो आलोचना दी गई है वह एकांगी ही नहीं है, वरन् वह भाषा, भाव, काव्य-कौशल, (रस, अलंकार, आदि) शैली आदि कतिपय आवश्यक एवं ज्ञातव्य विषयों से सम्बन्ध रखती है और इन सब बातों पर सूक्ष्म किन्तु मार्मिक रूप से प्रकाश डालती है। दोष-गुण-विवेचन और कवि-काव्य-परिचय की ओर भी इसमें पर्याप्त ध्यान दिया गया है।

इसके पश्चात् विहारी की सतसई को लेकर श्री पं० पद्मसिंह शर्मा ने एक आलोचनात्मक पुस्तक लिखी। इसमें प्राचीन परिपाटी की गुण-दोष-प्रकाशिनी आलोचना के अतिरिक्त तुलनात्मक या तारतम्यिक तथा काव्य-समीक्षात्मक विवेचन को भी अच्छा स्थान दिया गया है, साथ ही, सतसईशैली की उस परम्परा की भी ओर योग्यतापूर्वक अच्छा निर्देश किया गया है जिसके आधार पर सतसई की रचना हुई

थी। इस परम्परा का संस्कृत की सप्तशतीवाली परम्परा से सम्बन्ध दिखलाने के लिए भी इसमें शर्माजी ने आर्या सप्तशती आदि का स्थान स्थान पर उल्लेख किया है।

इतना होने पर भी—यह कहना असंगत न होगा कि इसमें विहारी एवं उनके काव्य की विशेषताओं एवं अन्तर्वृत्तियों की विवेचना का अभाव खटकता ही है, साथ ही कहीं कहीं पक्षपात की छाया भी इसे मलिन-सा कर देती है। इसकी शैली रोचक और वार्तालापात्मक होती हुई भी अपनी मज़ाकबाज़ी और मुशायरी दाद के कारण चित्त में कम जमती है। कहीं कहीं तो हास्योपहास की मर्यादा भी तोड़ सी दी गई है और कहीं कहीं विहारी के साथ ऐसा पक्षपात किया गया है कि वह खटक जाता है। संस्कृत के भी उन श्लोकों एवं उनके रचयिताओं से विहारी के उन दोहों को, जो उन्हीं के आधार पर या उन्हीं के भावों को लेकर एक प्रकार से अनुवाद के रूप में लिखे गये हैं और मूल श्लोकों से कहीं घट कर हैं—विशेषता दी गई है। फिर भी पुस्तक अपने ढंग को अनूठी ही है, और साहित्य में अच्छा स्थान रखती है। इसी पुस्तक ने उस तुलनात्मक पद्धति को भी, जिसकी ओर मिश्रबंधुओं ने अंगुल्यानिर्देश किया था, विशेष प्रधानता दे दी। आगे लोग इस पद्धति को चारों ओर बेतरह खींचने लगे। और तुलना ही को आलोचना मानने लगे। इसी शैली के आधार पर दो सुन्दर आलोचनात्मक

पुस्तकें—"देवविहारी" और "विहारी और देव" नाम की निकलीं।

श्री० पं० कृष्णविहारी की "देव-विहारी" नामक पुस्तक तुलनात्मक आलोचना की अच्छी पुस्तक है। इसमें शिष्टता और मार्मिकता के साथ दोनों महाकवियों की रचनाओं का मिलान किया गया है और उनकी साहित्यिक विवेचना भी अच्छे ढंग से की गई है। "विहारी और देव" नामक पुस्तक स्व० लाला भगवानदीन ने इसके उत्तर में लिखी थी, यह पुस्तक भी अच्छा साहित्यिक मूल्य रखती है। इसमें भी तुलनात्मक शैली से आलोचना की गई है। इसमें उन बातों पर भी विचार किया गया है जिनको लोग देव या विहारी के सम्बन्ध में उचित नहीं मानते।

इन दोनों पुस्तकों के उपरान्त तुलनात्मक आलोचना का अर्थ केवल तुलना ही सा लिया जाने लगा और बहुत अंशों तक इसका दुरुपयोग भी हो चला। वस्तु-भाव-साम्य न होने पर भी तुलनायें की जाने लगीं। इस प्रकार की तुलनायें अब तक भी न्यूनाधिक रूप से होती जाती हैं।

तुलना को एक विशेष स्थान साहित्य-समीक्षा एवं काव्य-विवेचन में दिया जाना चाहिए अवश्य, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि यह आलोचना का स्थान ही ले ले। आलोचना का यह उपयोगी अंग अवश्य है किन्तु तुलना ही आलोचना नहीं है। फिर भी तुलनात्मक विवेचना ने कुछ समय

तक इतना प्राधान्य प्राप्त कर लिया कि पुस्तकों की भूमिकाओं में भी इसे स्थान—प्रमुख स्थान—प्राप्त होने लगा और कुछ अच्छे आलोचक भी इससे प्रभावित होकर इसे विशेषता देने लगे। पंडित कृष्णविहारी मिश्र की "मतिरामग्रंथावली" की भूमिका इसका अच्छा उदाहरण है। इस भूमिका में रूढ़िगत (conventional) आलोचना के साथ वस्तु-विवेचन भी किया गया है, किन्तु विशेषता तुलना की ही है।

श्री० पं० रामचन्द्र शुक्ल ने सत्समालोचना को विकसित और प्रचलित करने में सराहनीय श्रम किया और उस साहित्य-समीक्षा का मार्ग खोला जिसमें कवि-काव्य के अंतरंग एवं बहिरंग दोनों पटलों पर मार्मिक विचार किया जाता है। काव्य की विशेषताओं और कवि की विचार-धारा में प्रविष्ट होकर उसकी अन्तर्वृत्तियों का निरूपण करना साहित्यिक दृष्टि से सत्मालोचना का विशेष गुण है, गुणदोष-निर्णय भी इसी के साथ हो जाता है। शुक्ल जी ने अपनी आलोचना में कई दृष्टियों से विवेचना की है। समालोचना की प्रमुख नवीन शैलियों का पूरा प्रभाव इसमें झलकता है। शुक्ल जी की आलोचनायें मार्मिक, स्पष्ट, मननशील और विस्तृत अध्ययन से परिपूर्ण हैं। इसी लिए इनको साहित्य में अच्छा स्थान प्राप्त हुआ है।

तुलसी और जायसी (तथा सूर पर भी) तथा उनके काव्यों पर शुक्लजी ने बड़ी ही गंभीर और सुन्दर आलोचनायें

लिखी हैं। हाँ, कहीं कहीं विवेचना का विस्तार कुछ विशेष बढ़ गया है और इससे उसमें जटिलता-सी आ गई है। प्रायः सभी प्रकार की आलोचना के रूप इसमें पाये जाते हैं। भाषा कहीं कहीं गहन और जटिल हो गई है जिससे वह क्लिष्ट-सी जान पड़ती है। ये आलोचनायें भी पुस्तकाकार न होकर भूमिका के रूपों में ही लिखी गई हैं। इनमें आलोच्य वस्तु का गुण-दोष-निरूपण (प्रायः गुणनिरूपण ही), साहित्य में उसका स्थान-निर्धारण एवं उसका व्याख्यात्मक स्पष्टीकरण योग्यता के साथ किया गया है।

वर्तमान कवियों में से ब्रजभाषा के महाकवि "श्रीरत्नाकर" जी के "उद्धवशतक" नामक काव्य की ऐसी ही व्याख्यात्मक आलोचना हमने भी भूमिका के रूप में लिखी है। इसमें भी हमने काव्य-वस्तु की सूक्ष्म विवेचना, काव्यशास्त्रानुकूल गुण-निदर्शन आदि बातें स्पष्ट रूप से लिखी हैं।

आलोचना का इस प्रकार संक्षेप से विकास दिखाते हुए यहाँ यह कहना भी आवश्यक जान पड़ता है कि इस विकास को समाचार-पत्रों से भी बड़ा लाभ हुआ है। पत्र-पत्रिकाओं ने साहित्य-समालोचना को सदा स्थान दिया है और अब तक वे बराबर दे रही हैं। प्रायः प्रत्येक पत्र (दैनिक, साप्ताहिक) तथा पत्रिका (मासिक, पाक्षिक आदि) में समालोचनात्मक लेख, सूक्ष्म टिप्पणियाँ या पुस्तक-परिचय (Review) प्रकाशित

होते रहते हैं। आलोचनात्मक लेखों को तो छोड़िए, और उन टिप्पणियों पर आइए जो पत्र के सम्पादकीय भाग में दी जाती हैं। ये आलोचनात्मक टिप्पणियाँ बहुधा सम्पादकों के ही द्वारा लिखी जाती हैं, कभी कभी सम्पादक इन्हें विद्वानों से भी लिखवा मँगाते और उनके नाम से प्रकाशित करते हैं। इन टिप्पणियों में प्रायः आलोचना न रह कर पुस्तक-परिचय-मात्र ही रहता है।

कुछ संपादक तो ऐसे हैं जो कई विषयों में न्यूनाधिक रूप से अच्छा ज्ञान या परिचय रखते हैं और अपने विषयों की पुस्तकों पर अपनी सम्मति देने की यथेष्ट क्षमता रखते हैं। वे अपना उत्तरदायित्व भी समझते हैं, अस्तु विचारपूर्वक अपने विषय की पुस्तकों का आलोचनात्मक परिचय देते हैं अथवा जिस विषय से उन्हें यथेष्ट परिचय नहीं प्राप्त है उस विषय की पुस्तक पर उस विषय के किसी अच्छे विद्वान् की सम्मति लेकर प्रकाशित करते हैं। प्रायः बहुत से ऐसे ही सम्पादक हैं जो बहुज्ञ और बहुश्रुत न होते हुए भी अपने को सर्वेसर्वा या सर्वज्ञ मानते हैं और सभी विषयों की पुस्तकों पर, जो उनके पास पहुँचती हैं— अपने उत्तरदायित्व को दूर रखकर—जो कुछ भी उलटा-सीधा मन में आया लिख मारते हैं। ऐसे सम्पादक-मंडल ने समालोचना के लिए कुछ वाक्य-वाक्यांश, पद या शब्द निश्चित कर रक्खे हैं, जो साधारणतया बड़े व्यापक अर्थ रखते हैं। इन्हीं के आधार पर वे सभी प्रकार की पुस्तकों पर अपनी

सम्मति की छाप लगा देते हैं। प्रायः ऐसी आलोचनात्मक टिप्पणियों में पुस्तक की छपाई-सफ़ाई, आकार-प्रकार, सज-धज आदि का ही उल्लेख किया जाता है, मूल्य पर नुक़ताचीनी की जाती है और पृष्ठ-संख्या की ओर संकेत किया जाता है। लेखक और प्रकाशक का भी पता दे दिया जाता है। हाँ कभी कभी विषयानुक्रमणिका तथा लेखकादि की भूमिका के आधार पर दो-चार साधारण बातें भी लिख दी जाती हैं। व्यक्तिगत बातों के आधार पर भी कभी कभी अनावश्यक एवं अनीप्सित बातें कही जातीं और किसी की तो व्यर्थ की बड़ाई ही की जाती है और किसी का उपहास किया जाता है। व्यक्तित्व-विचार की मात्रा ही प्रायः इनमें प्रधान रहती है। पारस्परिक व्यवहारादि की छाया पूर्ण रूप से झलकती रहती है। यह सत्समालोचना के सिद्धान्त का नितान्त विलोम रूप है और उसका विनाशक भी है।

इस समय वास्तव में सत्समालोचना के लिए कहीं स्थान ही नहीं। पक्षापक्ष एवं दलादली के कारण सत्समालोचक मौन ही रहते हैं। प्राचीन कवियों एवं लेखकों के विषय में तो कहने की आवश्यकता ही नहीं, आधुनिक काल के जितने भी वर्तमान कवि और लेखक हैं वे प्रायः अपने को प्रारम्भ ही से महा-कवि (इससे भी अधिक बड़े) महाविद्वान् और दिग्गज लेखक मानते हैं और अपने में सिवा सद्गुणों के किसी भी प्रकार का दोष देखते ही नहीं, और न किसी के द्वारा दोष दिखाये

जाने को पसंद ही करते हैं। आत्मश्लाघा के ही वे पूर्ण उपासक होते हैं, आत्मप्रशंसा के अतिरिक्त वे और कुछ कहना कहाना, देखना-सुनना या लिखना-लिखाना (पढ़ना-पढ़ाना) जानते ही नहीं। ऐसी दशा में यदि किसी सच्चे समालोचक ने उनकी सत्समालोचना करते हुए कहीं उनके कुछ दोष भी प्रकट कर दिये तो वे उसके शत्रु होकर उसके लिए सभी प्रकार के कुत्सित शब्दों या पदों का उच्छृङ्खलता-पूर्ण प्रयोग करते हैं और बेचारे को रहना भी कठिन कर देते हैं। यह प्रवृत्ति प्रायः उन नये युवकों में विशेष देखी जाती है जो अभी अभी उठे हैं और साहित्य का क, ख, ग ही सीख सके हैं। खड़ी बोली के ऐसे उच्छृङ्खल नवयुवक कवियों या लेखकों से हम इस स्पष्टवादिता के लिए क्षमा चाहते हैं, यद्यपि हमने यह केवल उनकी और साहित्य की हितकामना से प्रेरित होकर ही लिखा है।

तात्पर्य यह है कि इस समय वास्तव में सत्समालोचना का एक प्रकार से नितांतमेव अभाव सा है। पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष, आत्मश्लाघा, अनधिकार चेष्टा, अनुचित और अयोग्य यशोलिप्सा या महत्त्वाकांक्षा की निंद्य प्रवृत्तियों के प्राबल्य से ही दुरालोचना (जिसमें व्यर्थ की गर्हित बातें बकी जातीं, उपहास किया जाता और तीव्र शब्दों में निंदा की जाती है) का प्राचुर्य हो रहा है। यह साहित्य-वृद्धि के लिए कितना हानिकारक है इसके कहने की आवश्यकता ही नहीं। जितना

ही शीघ्र इस प्रवृत्ति का अंत हो सके उतना ही अच्छा है। अस्तु।

यह सब होते हुए भी यह अवश्य है कि हिन्दी-साहित्य के विकास के साथ ही साथ आलोचना का भी उत्तरोत्तर विकास हो रहा है। हिन्दी-भाषा और साहित्य को कालेजों और विश्वविद्यालयों की उच्च कक्षाओं में स्थान प्राप्त हो गया है, अतएव हिन्दी-साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन की ओर यथेष्ट कार्य हो रहा है, तुलनात्मक अध्ययन की भी वृद्धि हो रही है, और वैज्ञानिक शैली से पठन-पाठन का कार्य होने लगा है। अस्तु, आलोचनात्मक अध्ययन में सहायता पहुँचानेवाले उन प्राचीन ग्रन्थों के संस्करण प्रकाशित हो चले हैं जिनके केवल मूल संस्करण भी अच्छे रूप में न प्रकाशित हो सके थे, और यदि हुए भी थे तो सुलभ और प्राप्त न थे। लेखकों और प्रकाशकों दोनों को पर्याप्त प्रोत्साहन प्राप्त हो रहा है अतः वे लोग इस कार्य में सराहनीय प्रयत्न के साथ संलग्न हो रहे हैं।

हिन्दी-साहित्य, चूँकि अब अँगरेज़ी-साहित्य के भी साथ चलने लगा है और दोनों का सम्पर्क-सम्बन्ध भी बढ़ चला है (क्योंकि दोनों एक ही साथ विश्वविद्यालयों में समान स्थान रखते हैं औ सहयोगी होकर मित्रवत् रहते हैं।) अस्तु, हिन्दी-साहित्य पर अँगरेज़ी-साहित्य का भी अच्छा प्रभाव पड़ रहा है। उसके अध्ययनाध्यापन अथवा पठन-

पाठन में अँगरेज़ी की वैज्ञानिक शैली का यथोचित रूप से संचार-प्रचार हो चला है। कार्य-क्षेत्र में भी वैज्ञानिक एवं शास्त्रीय पद्धति का प्राधान्य होता जाता है।

समालोचना के क्षेत्र में भी अँगरेज़ी की समालोचना-सम्बन्धी नवीन विशेषताओं एवं शैलियों का प्रभाव प्रधानता के साथ प्रगाढ़ रूप से पड़ रहा है। अस्तु, अँगरेज़ी ढंग की नवीन आलोचना-शैलियाँ या पद्धतियाँ हिन्दी-साहित्य के समालोचना-क्षेत्र में उदित होने लगी हैं। इनका विवेचन हम अन्यत्र दे रहे हैं। अभी यहाँ केवल यही कहना पर्याप्त है कि अब आलोचना पाश्चात्य आलोचना-परिपाटियों या प्रणालियों से प्रभावित होकर नवीनता के साथ विकसित होने लगी है।

यह अँगरेज़ी-साहित्य का ही प्रभाव है कि हमारे यहाँ किसी कवि या काव्य को लेकर उसका समवलोकन करते हुए उसके गुण-दोषों तथा उसकी विशेषताओं को प्रकट करने और इस प्रकार उसका आलोचनात्मक परिचय प्राप्त कराने के लिए पुस्तकों के प्रकाशित करने की चाल चल पड़ी है। इस प्रकार की कुछ पुस्तकें प्रकाशित भी हुई हैं—यद्यपि अभी बहुत ही अल्पसंख्या में—उनमें से मुख्य मुख्य का उल्लेख किया जा चुका है।

यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि अँगरेज़ी में काव्यशास्त्र ऐसे सुन्दर रूप में नहीं प्राप्त होता, जैसे सुन्दर,

सुव्यवस्थित एवं सुविवेचित रूप में वह हमारे यहाँ प्राप्त होता है। काव्य के सिद्धान्तों का निरूपण अवश्यमेव कुछ किया गया है किन्तु सर्वाङ्ग-पूर्णता के साथ नहीं। हमारे यहाँ काव्यशास्त्र सर्वाङ्गपूर्ण और सांगोपांग है। अद्यापि पाश्चात्य आलोचक रचना-सिद्धान्तों के स्थिर करने में लगे हुए हैं।

पाश्चात्य देशों में समालोचना का विकास एक स्वतंत्र विषय के रूप में हुआ है और हो रहा है, काव्य-सिद्धान्त-निरूपण या काव्य-शास्त्र में वह पृथक् ही सा है, हाँ उस पर आधारित अवश्य है और उससे पूर्णरूप में सहायता लेता है। यह बात अभी तक हमारे यहाँ सुचारु रूप से नहीं देखी जाती, अभी थोड़े ही दिनों से इस ओर लोगों का कुछ ध्यान गया है।

अँगरेज़ी की आलोचना-विषयक पुस्तकों से पूर्णतया सहायता लेकर श्री० बा० श्यामसुन्दरदास ने एक सुन्दर पुस्तक "साहित्यालोचन" नाम से लिखी है, और इस प्रकार इसके पथ-प्रदर्शन कराने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। यह पुस्तक अपने ढंग की एक अनूठी ही पुस्तक है। यद्यपि इसमें पाश्चात्य (अँगरेज़ी) ग्रंथों से सहायता ली गई है तथापि भारतीय (संस्कृत के) काव्यशास्त्र पर ही यह मुख्यतया समाधारित है और इसमें साहित्यशास्त्र और साहित्यिक रचना के प्रायः समस्त अंगों पर यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार श्री० पदुमलाल बख़्शी ने भी 'विश्व-साहित्य'

नामक एक आलोचनात्मक पुस्तक लिखी है। ऐसी ही दो-एक छोटी छोटी पुस्तकें इस ओर और भी प्रकाशित हुई हैं। फिर भी कह सकते हैं कि हिन्दी-साहित्य में इस विषय की अच्छी पुस्तकें अभी हैं ही नहीं, यह कमी जितनी ही शीघ्रता से पूरी की जा सके उतना ही श्रेयस्कर होगा।

संस्कृत में काव्य-शास्त्र के अनेक सुन्दर ग्रंथ हैं, जिनके आधार पर हिन्दी के रीति-ग्रंथ रचे गये हैं। हाँ, समालोचना-सम्बन्धी ऐसे ग्रंथ, जिनकी ओर ऊपर संकेत किया गया है—न तो संस्कृत ही में हैं और न हिन्दी ही में। जब संस्कृत ही में नहीं तब हिन्दी में कहाँ से आवें। संस्कृत में तो इस प्रकार के ग्रंथों का अभाव होना सकारण हो सा है, क्योंकि संस्कृत-काल में काव्यशास्त्र का विकास अथक श्रम के साथ हो रहा था, और विद्वानों का ध्यान उसके ही पूर्ण करने की ओर था, साथ ही उस समय काव्यशास्त्र के ही आधार पर लोग गुण-दोष-प्रकाशन ही को समालोचना मानते थे, और यही परिपाटी तब से बराबर चलती हुई अब तक न्यूनाधिक रूप में चली आई, अतएव काव्य-शास्त्र के होते हुए, जिससे ही गुण-दोष-सूचिनी समालोचना-प्रद्धति का विशेष काम था, समालोचना के ग्रंथ कैसे और क्यों लिखे जाते। गद्य-विकास, मुद्रणयंत्रादि का अभाव भी ऐसे ग्रंथों की कमी का एक कारण हो सकता है। अस्तु, हिन्दी-भाषा में भी इस अभाव के यही कारण कहे जा

सकते हैं। हिन्दी-गद्य का विकास प्राचीन समय में हुआ ही न था, साथ ही काव्य और काव्यशास्त्र के रीति-ग्रंथों की रचना का प्राबल्य था, अतः समालोचना-सम्बन्धी कार्य और उसकी पुस्तकों का निर्माण सुचारु रूप से न हो सका।

आधुनिक समय में अब समालोचना-सम्बन्धी पुस्तकों की बड़ी आवश्यकता है। फिर भी अब तक समालोचना-कला का विशद विवेचन नहीं किया जा सका, यह दुःख का विषय है। समालोचना कैसे की जानी चाहिए उसके प्रमुख नियम क्या हैं और क्या हो सकते हैं तथा समालोचक के क्या कर्तव्य हैं इत्यादि विषयों पर विशद प्रकाश डालनेवाले सुन्दर ग्रंथों का निर्माण इसी काल का कार्य है। अस्तु विद्वानों को इस ओर ध्यान देना चाहिए।

सारांश

आलोचना के विकास पर जो प्रकाश ऊपर डाला गया है उसे निष्कर्ष रूप में हम यहाँ यों रख सकते हैं कि आलोचना के विकास की तीन मुख्य अवस्थायें हुईं अथवा इसका विकास-काल तीन मुख्य कालों में विभक्त किया जा सकता है—

१—**प्रारम्भिक अन्वेषणकाल** :—इस काल के श्रीगणेश की निश्चित तिथि नहीं बतलाई जा सकती, केवल इतना ही कहा जा सकता है कि इसका उदय उस भूत-गर्भ-विलीन प्राचीनकाल में हुआ जिसमें सुन्दर साहित्य (काव्य) का निर्माण पर्याप्त मात्रा में हो चुका था और वह अपनी यथेष्ट विकसित तथा प्रौढ़ अवस्था को प्राप्त हो चुका था। साहित्य-क्षेत्र में जब सुन्दर सुन्दर रचनायें यथेष्ट संख्या में उपस्थित हो चुकी थीं। इन्हीं रचनाओं का सांगोपांग रूप से निरीक्षण करते हुए आलोचकों ने अन्वेषकों की भाँति इनकी विशेषतायें ज्ञात कीं और वे समस्त बातें खोज निकालीं जिनके कारण वे रचनायें रुचिर, रोचक और प्रभाव-पूर्ण हो सकी थीं, अर्थात् साहित्यिक रचनाओं का मार्मिक अध्ययन करके आलोचकों ने उनकी विशेषताओं के आधार पर साहित्य या काव्य के ऐसे नियम निश्चित किये जिनके परिपालन से रचना में साहित्यिक क्षमता, रमणीयता, रोचकता एवं

प्रभावोत्पादकता आदि के समाकर्षक गुण आ सकते हैं। रचना के सिद्धान्त अर्थात् काव्य आदि के रूप, गुण आदि स्थिर किये गये और उन्हीं के आधार पर अन्य रचनाओं का निर्णय किया जाने लगा। इस विचार से हम इस काल को अन्वेषण और निर्माणकाल कहते हैं। यह समय प्रयोगकाल की ओर झुक जाता है और जो नियम या रचना-सिद्धान्त इस काल में खोज कर निर्धारित किये उन नियमों की परीक्षा करने के लिए प्रयोगकाल में, जो उस काल का अंतिमांश ही है—उन्हीं नियमों के आधार पर रचनायें की जाने लगीं और यह देखा जाने लगा कि उन नियमों का परिपालन वास्तव में उपयुक्तोपादेय और अभीष्ट फलदायक है अथवा नहीं, और यदि है तो कितनी दूर तक और किस रूप में। इस प्रयोगकाल (Experimental age) में पूर्व निश्चित नियमों की परीक्षा (Verification) के साथ ही साथ उनमें यथोचित संशोधन और परिमार्जन भी हुआ, वे परिष्कृत और परिवर्धित भी किये गये, जिसके साथ मत-भेद और खंडन-मंडन का उदय हुआ। फलतः भिन्न भिन्न प्रकार के मतों (सिद्धान्तों) और विविध शैलियों के साथ काव्य एवं काव्य-शास्त्र का विशद विकास हो गया* इसके उपरान्त द्वितीय काल आता है।

---

* पाश्चात्य आलोचना के लिए अभी यही समय है, वह भी अभी इसी दशा में है। पाश्चात्य आलोचक अब तक अपने साहित्य की सुन्दर सुन्दर रचनाओं का सांगोपांग निरीक्षण करते हुए उनकी रुचिर

२—कार्य या परम्पराकाल—प्रथम काल में काव्य या साहित्यिक रचना के सिद्धान्तों या नियमों के निश्चित हो जाने पर कवि और लेखक तो उनके अनुसार रचनायें करने लगे और आलोचक-जन उनकी रचनाओं में उन नियमों की चरितार्थता देखने लगे। अस्तु, इसे हम परम्परागत पद्धतियों के परिपालन का काल कह सकते हैं। इसी काल में आलोचकों को प्रायः टीकाकार होकर केवल काव्य के स्पष्टीकरण ही की ओर चलना पड़ा और कहीं कहीं कुछ तुलनात्मक आलोचना भी करनी पड़ी। यह समय लगभग संस्कृत के मध्यकाल से लेकर अब तक चला आया है। इस काल में भी कुछ नवीन विशेषताओं का

रोचक विशेषताओं की खोज कर रहे हैं, और उनके ही आधार पर काव्यसाहित्य एवं आलोचना के नियमों अथवा सिद्धान्तों के स्थिर करने में लगे हैं। अँगरेज़ी साहित्य अभी ३ या ४ सौ वर्ष का ही एक बालक है, अब तक इसी लिए उसके काव्य-शास्त्र का पूर्ण रूप से निश्चित विकास नहीं हो पाया, उसमें वह स्थैर्य और प्रौढ़त्व नहीं आ सका जो हमारे संस्कृत एवं हिन्दी-साहित्य में प्रथम ही आ चुका है। हाँ, हमारी खड़ी बोली के काव्य-साहित्य की अवश्यमेव अभी ऐसी ही दशा है, वह भी अभी केवल कुछ ही वर्षों का नवजात शिशु-सा है। यह अवश्य है कि हमारा काव्य-शास्त्र सर्वथा पूर्ण और प्रौढ़-सा ही है। हाँ, अब अँगरेज़ी आदि अन्य भाषाओं के साहित्यों के प्रभाव से उसमें भी कुछ नवीन विकास की आवश्यकता हो चली है और वह परिवर्धन एवं परिमार्जन का मुखापेक्षी हो रहा है।

उदय एवं विकास काव्य तथा काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में हुआ है किन्तु ऐसा नहीं जो विशेष उल्लेखनीय हो। इसी के अन्दर हिन्दी-भाषा और उसके साहित्य का भी उदय और विकास हुआ है।

अभी केवल थोड़े ही दिनों से कुछ नवीनता की ज्योति चमकने लगी है। हिन्दी-साहित्य पर अँगरेज़ी और बँगला आदि अन्य भाषाओं के साहित्यों का प्रभाव पड़ रहा है, जिससे कुछ नवीनता लिये हुए खड़ी बोली का काव्य-साहित्य उठने लगा है, हाँ, ब्रजभाषा-साहित्य अभी अपनी उसी प्राचीन पद्धति के अनुसार न्यूनाधिक रूप में चलता जाता है। अस्तु, अब एक प्रकार का परिवर्तनकाल-सा उदित होता हुआ जान पड़ता है।

३—परिवर्तनकाल—यह काल अभी थोड़े ही समय से प्रारम्भ हो रहा है। इसका प्रमुख कारण है अँगरेज़ी और बँगला भाषाओं के साहित्यों का प्रबल प्रभाव। खड़ी बोली के काव्य का नवविकास, जो पाश्चात्य साहित्य से सर्वथा प्रभावित हो रहा है, अब आलोचकों को फिर नये रंग-ढंग से अन्वेषण-कार्य के लिए बाध्य-सा करता है। नये कवि और लेखक अब सब प्रकार प्राचीन परिपाटियों, रूढ़ियों एवं निश्चित नियमों के ही अनुकूल रचना-कार्य नहीं करते, वरन् स्वतन्त्रता के साथ चिर प्रचलित रीतियों या शैलियों की उपेक्षा सी करते हुए अँगरेज़ी, बँगला आदि की रचनाओं के अनुकरण-स्वरूप में कुछ नवीन विशेषतायें रचना-क्षेत्र में

उत्पन्न करने लगे हैं। अस्तु, अब आलोचकों को भी अपनी आलोचना-शैली में नवीन परिष्कार का करना अनिवार्य हो गया है।

पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित हुई साहित्यिक रचनाओं के लिए पाश्चात्य आलोचन-शैली ही विशेष उपयुक्त और आवश्यक ठहरती है इसी लिए अब आलोचना में भी पाश्चात्य सिद्धान्तों का समावेश किया जाने लगा है। इस विषय पर हम आगे चल कर अधिक प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

—

आलोचक

समालोचना की परिभाषा देकर, उसके लक्षण (गुण-दोष) एवं रूपादि पर प्रकाश डाल चुकने पर यह भी उपयुक्त तथा उपादेय प्रतीत होता है कि आलोचक के भी सम्बन्ध में कुछ आवश्यक और उपयोगी बातें यहाँ बता दी जावें। आलोचक को कैसा होना चाहिए, उसमें किन किन गुणों का होना समीचीन है, उसका क्या कर्तव्य है, उसमें कहाँ तक योग्यता का होना वाञ्छनीय है, उसका कर्तव्य-कर्म क्या है, उसे वह कैसे सम्पादित करे आदि बातों पर भी कुछ सूत्ररूप में कथन करना आवश्यक जान पड़ता है।

यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति में आलोचनात्मक दृष्टि और शक्ति किसी न किसी अंश (न्यूनाधिक रूप) में स्वभावतः पाई जाती है और प्रायः प्रत्येक व्यक्ति इस स्वाभाविक शक्ति के आधार पर वस्तुओं, घटनाओं आदि की किसी न किसी रूप में आलोचना किया ही करता है, तथापि अच्छा आलोचक होना सबके लिए समान और साधारण बात नहीं। जिस प्रकार सबके लिए सुकवि, सुलेखक एवं सुवक्ता आदि का होना समान और साधारण बात नहीं उसी प्रकार सत्समालोचक का होना भी सरल-सामान्य नहीं।

जिस प्रकार तर्कणा-शक्ति सबमें ही कुछ न कुछ होती है उसी प्रकार आलोचना-शक्ति भी होती है। किन्तु किसी किसी व्यक्ति में तर्कणा और आलोचना शक्ति अपने विशेष रूप एवं अंश में देखी जाती है। स्वभावतः ही ऐसे व्यक्ति अच्छे नैयायिक (तार्किक) और समालोचक होते हैं। ऐसे व्यक्तियों को जन्मतः समालोचक कहना चाहिए। ऐसे व्यक्ति और भी अच्छे समालोचक और तार्किक हो जाते हैं जब वे अपनी इन प्रकृति-प्रदत्त शक्तियों को विज्ञान-कला एवं ज्ञानानुभवादि के द्वारा ख़ूब निखार लेते हैं। सत्संग के प्रभाव से भी उनकी यह शक्तियाँ सुविकसित होकर प्रकाशित होती हैं और उन्हें प्रख्यात कर देती हैं। तात्पर्य यह है कि जन्मतः कवि, लेखक आदि के समान समालोचक भी स्वभावतः ही होते हैं। ऐसे ही समालोचक अपनी आलोचना-शक्ति को ज्ञानानुभवादि से विवर्धित एवं विकसित कर स्तुत्य कार्य कर सकते हैं।

गुण, कोई भी हो, तभी वास्तव में गुण होकर चमकता है जब वह गुणज्ञ के पास पहुँचता है। कैसा ही गुण क्यों न हो निर्गुणी में पहुँचकर वही दोष सा हो जाता है। कहा भी है—

"गुणाः गुणज्ञेषु गुणाः भवन्ति,
ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः।"

आलोचना-शक्ति भी इसी सिद्धान्तानुसार जब किसी सद्गुणी व्यक्ति के पास पहुँचती है तब वह सुचारु रूप से

चमकती हुई उसे भी चमका देती है, किन्तु किसी निर्गुणी या दुर्गुणी के पास पहुँचकर वही शक्ति दोषकारिणी हो जाती है। इससे स्पष्ट है कि वही व्यक्ति अच्छा समालोचक होता या हो सकता है जिसमें आलोचना-शक्ति के साथ ही और दूसरे सद्गुण भी हों और ऐसे गुण हों जिनसे आलोचना-शक्ति को पूर्णरूप में सहायता प्राप्त होती हो। जब तक ऐसा न होगा तब तक न तो कोई केवल इसी शक्ति से अच्छा समालोचक ही हो सकता है और न उसकी समालोचना ही अच्छी एवं मान्य हो सकती है। यदि कारण है कि बहुत ही कम अच्छे समालोचक और बहुत ही अल्पसंख्या में अच्छी समालोचनायें देखने में आती हैं। आलोचना-शक्ति के रहते हुए भी अन्य गुणों के न रहने से बहुतेरे समालोचक—यदि उन्हें कहने के लिए ही समालोचक कहा जाये—दुरालोचक की-सी कीर्त्ति प्राप्त करते हैं।

यह भी देखा जाता है—और मनोवैज्ञानिकों का भी यही मत है—कि गुण मुख्यतया दो प्रकार के होते हैं—१—स्वभावज—जो जन्म से ही किसी में उपस्थित होते हैं, और प्रकृति-प्रदत्त माने जाते हैं। दार्शनिकों और वैज्ञानिकों का मत है कि ऐसे गुण पूर्व जन्म के संस्कारों पर ही समाधारित रहते हैं और जन्मान्तर के कर्मों से उत्पन्न होते हैं। इन्हीं के कारण मनुष्य स्वभावत: ही किसी विषय में विलक्षण विशेषता प्राप्त कर असाधारण व्यक्ति हो जाता है। २—स्वोपार्जित—

जिन्हें मनुष्य विद्या एवं सत्संग आदि के प्रभाव अथवा इनके ही अनुकरण से स्वत: उपार्जित कर अपने में उपस्थित कर लेता है। इनके साथ ही कुछ लोग गुणों की एक तीसरी श्रेणी भी मानते हैं और उसमें उन गुणों को रखते हैं जिन्हें मनुष्य अपने माता-पिता से पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त करता है, ऐसे गुणों को पैतृक गुण कहते हैं।

प्रत्येक मनुष्य में उक्त तीनों प्रकार के गुण कुछ न कुछ और किसी न किसी रूप में अवश्यमेव पाये जाते हैं। हाँ, यह अवश्य है कि किसी किसी में तो स्वभावज आदि गुणों में से किसी की विशेष प्रचुरता या प्रधानता होती है और किसी में नहीं। समालोचक इसका अपवाद नहीं हो सकता। अस्तु, समालोचक में भी इन गुणों की महत्ता-सत्ता है।

अच्छे समालोचक में समालोचना-शक्ति के साथ ही कुछ ऐसे विशेष गुण, जिनसे यह शक्ति निखर उठता है, भी होते हैं जो उसे स्वभावत: ही प्राप्त होते हैं। ऐसे ही गुणों से युक्त समालोचक वास्तव में प्रशस्त समालोचक होता है। स्वोपार्जित गुणों के द्वारा भी मनुष्य अपने को आलोचक बना सकता है किन्तु केवल आलोचक ही, सत्समालोचक नहीं।

गुण

एक सत्समालोचक में जो प्रमुख स्वाभाविक गुण होते और आपेक्षित हैं, उनमें से कुछ तो स्वाभाविक या जन्मसिद्ध होते हैं, कुछ प्रकृति से सम्बन्ध रखते हैं और कुछ उपार्जित

होते हैं। प्रथम दो प्रकार के तो सबमें समान रूप से नहीं मिलते और न मिल ही सकते हैं, वे ईश्वर या प्रकृति-प्रदत्त होते हैं अथवा पैतृक प्रभाव से प्राप्त होते हैं। तीसरे प्रकार के गुण समान-रूप में उपार्जित किये जा सकते हैं और प्राय: व्यापक-रूप में पाये जाते हैं। कोई भी व्यक्ति इन गुणों का उपार्जन कर सकता है, ये श्रम एवं अभ्यास से साध्य और अनुकरण-प्राप्त होते हैं। सत्संग और स्वाध्याय के द्वारा इनका उदय एवं विकास होता है, ये ज्ञान और अनुभव से उत्पन्न होते हैं।

इसी प्रकार कुछ गुण तो ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध मन या मस्तिष्क से है और जो बुद्धि एवं विवेक आदि से उत्पन्न और विकसित होते हैं, कुछ ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध हृदय से है और कुछ ऐसे भी हैं जिनको हम स्वभाव-जन्य कह सकते हैं, और जो सदाचरण से प्रभावित होते हैं। इसके साथ ही कुछ का सम्बन्ध शास्त्रीय ज्ञान से है और कुछ का कला-कौशल से है।

यह तो निर्विवाद ही है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए, जो अपने को अपने कार्यों का उत्तरदायी समझता है और अपने कर्त्तव्य-कर्म को पूर्णतया समझता तथा जानता-मानता है शुद्धाचरण से रहना और सदाचारी होना परमावश्यक है। एक लेखक, कवि या समालोचक के लिए तो यह अनिवार्य ही है, क्योंकि वह बहुत बड़ा उत्तरदायित्व रखता है। उसकी

रचना का देश-काल से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। जनता उसके आधार पर अपने को चलाने का प्रयत्न करती है, उससे प्रभावित होकर तदनुकूल ही आचरण करती है, इसी लिए लेखक या कवि देश-काल के बनाने एवं बिगाड़नेवाले माने जाते हैं, समाज का हिताहित इनके भी हाथ में है।

यदि इनका ही आचरण ठीक न होगा तो इनका अनुकरण करनेवाली जनता का आचरण कैसे ठीक हो सकता है। इसलिए इनका सदाचारी होना अनिवार्य ही है। यही बात समालोचक के लिए भी है। प्रत्येक समालोचक को—सच्चे सत्समालोचक को—अपना आचरण सर्वांग शुद्ध और अनुकरणीय ही रखना चाहिए।

आचरण का बहुत बड़ा प्रभाव हमारे मन एवं हृदय अथवा यों कहिए कि हमारी आत्मा पर सदैव पड़ता है। हमारी बुद्धि, हमारे विचार, हमारी भावनायें तथा प्रवृत्तियाँ आदि हमारे आचरण से पूर्णतया प्रभावित होती हैं। जब हमारा आचरण स्वच्छ होगा तब हमारा मन एवं हृदय भी शुद्ध और पवित्र होगा। मानसिक एवं हार्दिक शुद्धता अथवा पवित्रता सद्विचारों एवं सद्भावों की जननी है। कलुषित हृदय में उत्तम विचारों का उदय भी नहीं हो सकता और दुराचरण के बिना हृदय कलुषित भी नहीं हो सकता। सत्साहित्य के समझने और उसकी रचना करने के लिए शुद्ध हृदय और विमल मन का योग होना अनिवार्य ही है।

पुनीत हृदय में ही सुनीतिसंगत सद्विचारों के ग्रहण करने और उत्पन्न करने की शक्ति होती है।

इसी लिए सत्समालोचक को अपने आचरण के सर्वथा शुद्ध रखने का प्रयत्न सर्वदैव करना चाहिए। शुद्धाचारी ही निर्भीक और स्पष्टवादी हो सकता है, समालोचक के लिए निर्भीकता और स्पष्टवादिता दोनों ही अत्यन्त आवश्यक हैं। इनके बिना वह व्यर्थ के लिए भय के कारण झूठी प्रशंसा और निंदा करने के लिए बाध्य होगा और उसकी आलोचना इन दुर्गुणों की महत्ता और सत्ता से नष्ट होकर हानिकर और अयशस्कर ही सिद्ध होगी।

सबसे आवश्यक गुण सत्समालोचक के लिए सत्यप्रियता है, बिना इसके आलोचना में वास्तविकता एवं तथ्यता आ ही नहीं सकती। सत्यप्रिय आलोचक ही किसी सुन्दर रचना की मुक्तकंठ से सराहना और किसी दूषित रचना की निर्भीक विगर्हणा कर सकता है, और यह बात समालोचक के लिए परमाश्यक है, यदि वह किसी अच्छी रचना की सराहना करके उसके रचयिता को प्रोत्साहन नहीं देता, अथवा किसी निन्द्य या साधारण रचना की व्यर्थ ही में असंगत या अनुपयुक्त प्रशंसा करता है तो सबको खल जाता है, और उसकी प्रतिष्ठा को बाधा पहुँचती है। इसी के आधार पर कहा गया है—

"सुकविन के हिय माँहि नित, सालत हैं द्वै कौन।
मूरख केर सराहिबो, पण्डित जन को मौन॥"

अस्तु, सत्समालोचक को सत्यप्रिय होकर यथोचित रूप से सुन्दर रचना की सराहना और दोषयुक्त रचना का तिरस्कार करना चाहिए। इसके साथ ही उसे प्रिय और मधुर वचन कहने का भी अभ्यास करना चाहिए और "सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्" का भी "अप्रियस्य च सत्यस्य वक्ता-श्रोता च दुर्लभः" के साथ पूर्ण ध्यान रखना चाहिए। उसके सत्य एवं अप्रिय कथन को भी ऐसी माधुरी और चातुरी से संयुक्त होना चाहिए कि वह किसी के हृदय को न दुखा सके। "प्रियं च नानृतं ब्रूयात्" का भी उसे सर्वदा ध्यान रखना उचित है।

गुणग्राहकता भी उसके लिए एक आवश्यक गुण है। अपनी आलोच्य वस्तु में उसे प्रथम गुणों की ही ओर दृष्टि डालनी चाहिए और उन्हीं को ढूँढ़कर चारु चटकीले रंगों से सुरञ्जित कर प्रकाशित करना चाहिए। "सर्वज्ञ और निर्दोष कोई भी नहीं"* इस पर ध्यान रख उसे दोषों की ओर एक प्रकार से उपेक्षा की ही दृष्टि रखनी चाहिए। इसी आधार पर महात्मा तुलसीदास ने कहा है—

"संत-हंस गुन-पय गहहिं, परिहरि वारि-विकार"॥

किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि दोषों की नितान्त ही उपेक्षा करनी चाहिए। दोष प्रायः दो प्रकार के होते हैं, कुछ तो ऐसे होते हैं जो क्षम्य होते हैं और कुछ इतने हानिकारक

---

* "एक सच्चिदानंद बस, वेद "रसाल" गमान।
सब गुणयुत, निर्दोष नित, नहि अउ और जहान॥"

होते हैं कि वे अतथ्य ही माने जाते हैं। अस्तु आलोच्य वस्तु के ऐसे दोषों को दिखला देना अनुचित नहीं, जो अधिक खटकनेवाले और अनर्थकारक हैं। दोष-प्रदर्शन इस रूप में करना तो चाहिए किन्तु शुद्ध भाव से और इस विचार के साथ कि उनसे रचयिता, रचना और पाठकों को लाभ हो, उनकी सूचना उन्हें मिल जाये और उसके आधार पर वे सुधार कर सकें तथा उन दोषों से आगे बच सकें। रचना की पुनरावृत्ति में वे दोष दूर किये जा सकें। एतदर्थ दोष-प्रदर्शन के साथ आलोचक का यह भी कर्तव्य है कि वह यह भी सूचित कर दे और ऐसा संकेत दे दे जिसमें दोषों का दूरीकरण हो जाये और यह ज्ञात हो जाये कि इस प्रकार दोष दूर किये जा सकते और सुधार या संशोधन हो सकता है। इससे यथेष्ट लाभ हो सकेगा। ऐसी दशा में समालोचक एक प्रकार का सुधारक या संशोधक भी हो जाता है।

दोष-प्रदर्शन करते हुए समालोचक को कटुप्रलापी और ईर्ष्याद्वेषादि-प्रभावित न होना चाहिए। उसकी भाषा, शैली आदि में यथेष्ट शिष्टता, मधुरता और सद्भावना की छाया होनी चाहिए। दोष दिखलाते हुए उसे अपने को आलोच्य वस्तु तक ही सीमित रखना उचित है, यह सर्वथा अनीप्सित और अशिष्ट है कि आलोच्य वस्तु के दोष प्रकट करते करते आलोचक रचयिता के भी दोष (चारित्रिक, व्यावहारिक आदि) तीव्र शब्दों में प्रकट करने लगे, उसके व्यक्तित्व पर कठोर

कटाक्ष कर चले और उसका अश्लील एवं अशिष्ट उपहास कर बैठे।

यह भी स्मरण रखना चाहिए कि दोष-प्रदर्शन का यह मंतव्य कदापि नहीं कि आलोच्य वस्तु के केवल दोष ही ढूँढ़ ढूँढ़कर गहरे रंगों से चित्रित किये जायँ, यह नीच प्रवृत्ति है और आलोचक को तिरस्कृत करानेवाली ठहरती है—इसी प्रवृत्ति को "जलौकाप्रवृत्ति" कहा गया है*।

अस्तु, बड़ी सम और सूक्ष्म दृष्टि के साथ समालोचक को यह कार्य करना चाहिए। गुणों का प्रकाशन तो उसे सदैव मुक्तकंठ से अच्छे रूप में करना चाहिए, हाँ दोष-प्रकाशन में उसे ध्यान रखना चाहिए कि साधारण दोष क्षम्य और त्याज्य (उपेक्षणीय) हैं, केवल विशेष खटकनेवाले दोष ही शिष्टता, सुष्टता, मधुरता और सद्भावना के साथ सूचित किये जायँ। यह भी ऐसी भाषा और शैली में कि किसी को अरोचक, अप्रिय, और दिल दुखानेवाला न हो, साथ ही वस्तुतः वे दोष ही हों, जो दिखाये जायँ। केवल दोष दिखलाने के ही लिए बलात् वे दोप न ठहरा लिये गये हों। रचना के बहुत-से दोष प्रसंग, स्थान एवं प्रयोग आदि के प्रभाव से गुण और बहुतसे गुण इसी प्रकार दोष हो जाते हैं।

---

* "दोषहि को उमहै, गहै, गुन न गहै खल लोक।
पियै रुधिर, पय ना पियै, लगी पयोधर जौंक॥"

गुण-दोष-प्रकाशन में रचना और रचयिता की अवस्था, योग्यता आदि का भी ध्यान रखना अच्छा है—यदि यह सम्भव और उचित ठहर सके। क्योंकि जो दोष एक उच्च कोटि के लेखक या कवि के लिए अक्षम्य होते हैं वे ही एक साधारण श्रेणी के लेखक और कवि के लिए क्षम्य होते हैं। इसी प्रकार एक श्रेष्ठ रचयिता की जिन गुणों से विशेष प्रशंसा नहीं की जाती और जो गुणों उसके लिए साधारण से माने जाते हैं उन्हीं गुण के लिए एक सामान्य रचयिता की विशेष प्रशंसा की जाती है। अस्तु इन बातों पर एक सत्समालोचक को यथोचित ध्यान देना चाहिए। इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि समालोचक इन सब बातों से ही इतना प्रभावित हो जावे कि वह रचना को यथोचित रूप से देखे ही नहीं। प्रत्येक रचना को—चाहे वह श्रेष्ठ रचयिता की हो या सामान्य की—उसे सध्यान और स्वस्थमन (मस्तिष्क) के साथ देखना चाहिए, प्रथम ही से इन उक्त बातों—लेखक या कवि की योग्यता, क्षमता, अवस्था आदि—के द्वारा सर्वथा प्रभावित होकर अपना एक निश्चित विचार बनाकर रचना पर विचार न करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से वह रचना को यथोचित रूप से न देख सकेगा और इसलिए उसका निर्णय अथवा आलोचनात्मक विचार यथार्थ न हो सकेगा।

यह हो सकता अथवा होता है कि कभी कभी साधारण लेखक या कवि किसी किसी प्रसंग में ऐसा कह या लिख

जाते हैं जो श्रेष्ठ लेखकों एवं कवियों को भी नहीं सूझा।*
इसी लिए आलोचक को प्रथम रचना ही को स्वस्थ और शुद्ध मन से सध्यान देखकर विचार करना चाहिए, फिर अपने भाव को निश्चित करते हुए उसे लेखक की योग्यता आदि का विचार कर उसके गुण-दोष प्रकट करने चाहिए।

ऐसा करते हुए उसे निष्कपट होना भी परमावश्यक है किसी रचना के सम्बन्ध में विचार करते या अपना मत प्रकट करते हुए उसे किसी प्रकार भी अपने मन में कपट न रखना चाहिए—और सर्वथा शुद्ध वास्तविकता के साथ अपने हृदय को सामने खोलकर रख देना चाहिए। उसका यह कर्तव्य नहीं कि वह "तोताचश्म" होकर ऊपर से तो मुँहदेखी कहे या करे, और हृदय में कुछ और रक्खे। उसके हृदय में जो कुछ भी हो उसी को निष्कपटता के साथ उसे सम्मुख और परोक्ष में प्रकट करना चाहिए। भीतर और बाहर दोनों उसके एक से ही होने चाहिए—उसे इस नीति का—

"अन्तः शाक्ता बहिः शैवाः सभामध्ये तु वैष्णवाः।
नानारूपधराः कौला विचरन्ति महीतले॥"

अनुकरण कदापि न करना चाहिए। बहुधा वर्तमान समालोचकों की ऐसी ही नीति देखी जाती है, किन्तु यह निन्द्य है। आलोचक जिस रचना के विषय में सत्यता के साथ जो कुछ

---

* "जे प्रबन्ध नहि बुध आचरहीं,
सोई वादि बालकवि करहीं।"—तुलसी

सोचता, समझता और विचारता है, उसे उसको पूर्णतया निष्कपट होकर खुले हुए हृदय से कहना या लिखना चाहिए।

यह वह तभी ठीक तरह से कर सकता है जब वह सर्वथा न्याय-प्रिय और निष्पक्ष हो, उसमें पक्षपात—और अनुचित पक्षपात—बिलकुल न हो। न्यायप्रियता के प्रभाव से वह प्रत्येक को साम्यभाव के साथ देखेगा और सर्वत्र सर्वदा औचित्य का ही सर्वप्रकार विचार रक्खेगा। गुण-दोष का विवेचन और विचार कर प्रशंसा और निन्दा के रूप में उसे जिसे जैसा पुरस्कार और दण्ड देना है उसे वह ठीक वैसा ही देगा। साथ ही वह अपने और दूसरों के अधिकारों का भी यथेष्ट ध्यान रक्खेगा, अपनी और दूसरों की योग्यतादि का भी उचित विचार करेगा।

प्रायः यह देखा जाता है कि हमारी रुचि इतनी प्रधान हो जाती है कि हम उसी के अनुसार किसी लेखक या कवि के प्रति विशेष श्रद्धा, प्रेम एवं सहानुभूति रखते हैं और उसे विशेष स्थान, प्रतिष्ठा और सम्मान प्रदान करना चाहते हैं। उसकी विशेष प्रशंसा करते हैं, और उसके विपक्षियों की निन्दा करते हुए उन्हें हेय-सा समझते हैं, यद्यपि ऐसा हमें न समझना चाहिए, क्योंकि बहुत-सी बातों में वह विपक्षी भी सही है और बहुत-सी बातों में हम ग़लत हैं। इसका विचार न करके हम अपने प्रिय लेखक और कवि में सब गुण ही गुण देखते और इसी लिए उसे अथवा उसकी रचना को चाहते

और सराहते हैं। इसी प्रकार प्रायः हम अपने दोषों को न देख कर उस व्यक्ति से बुरा मान बैठते हैं जो उनकी ओर यथोचित संकेत करता है—"निज कवित्त केहि लाग न नीका,-......" के अनुसार अपने दोष अपने को नहीं दिखाई पड़ते, यह जानते हुए भी हम पक्षपात के वशीभूत हो अन्यथाचार करते हैं। निष्पक्षता का प्रशस्त गुण सत्समालोचक को इन बुराइयों से सर्वथा बचाता रहता है। सिद्धान्तों और विचारों में पार्थक्य तथा रुचि-वैलक्षण्य के होने पर भी हम इस गुण के प्रभाव से कतिपय अनीप्सित या अनिष्ट बातों से बच सकते हैं। वास्तव में निष्पक्ष समालोचना ही सर्वमान्य और स्थायी होती है, पक्षपातपूर्ण आलोचक यथार्थ में आलोचक ही नहीं माना जाता।

तुलनात्मक आलोचना करते समय तो समालोचक को और भी अधिक सतर्क तथा निष्पक्ष रहना चाहिए। दो रचनाओं और दो कवियों या लेखकों का संतोलन (Balancing) न्याय और निष्पक्षता के ही काँटे से हो सकता है। दो लेखकों अथवा कवियों की तुलना करनेवाला आलोचक दो पक्षों के बीच में मध्यस्थ या जज (निर्णायक, न्यायाधीश) के समान रहता है, दोनों पक्षों का सब प्रकार विचार करके उसे निर्णय करना और अपना स्वतंत्र न्यायसंगत मत निष्पक्षता के साथ प्रकाशित करना पड़ता है। यदि आलोचक ऐसी दशा में किसी भी पक्ष की ओर अपनी विशेष

अभिरुचि या अपने किसी प्रकार के लगाव के कारण अनौचित्य के साथ झुक जाता है तो वह अपने पथ से पतित हो जाता है। ऐसे ही आलोचक के सम्बन्ध में उसकी ऐसी ही पक्षपातपूर्ण आलोचना को देखकर किसी ने कहा है—

"चन्दन-कर्दम-कलहे, मण्डूको मध्यस्थी कृतः।
ब्रूते पङ्क-निमग्नः कर्दम-समतां न चन्दनो याति ॥"

अतएव अब स्पष्ट ही है कि निष्पक्षता तथा न्यायप्रियता सत्समालोचक के लिए सर्वथैव अनिवार्य ही है। इनकी अवहेलना करना उसके लिए अयशस्कर और गर्हित ही होता है।

प्रायः देखा जाता है कि जिन सिद्धान्तों या बातों के आधार पर किसी एक कवि या लेखक की प्रशंसा की जाती है—चूँकि वह अपना प्रिय (Favourite) है—उन्हीं सिद्धान्तों या बातों के आधार पर उसी की कोटि या उससे भो कुछ उच्च श्रेणी के कवि या लेखक पर कटु कटाक्ष किये जाते हैं—क्योंकि वह अपनी रुचि के प्रतिकूल होकर अपने को अप्रिय है, यह पक्षपात और अन्याय है, इसमें समदृष्टि का नितान्त अभाव है। सच्चे समालोचक को ऐसा कदापि न करना चाहिए।

इसका यह अर्थ नहीं कि समालोचक अपनी रुचि को स्वतन्त्रता तथा अपनी विशिष्ट धारणा की हत्या ही कर डाले और अपने प्रिय (Favourite) जनों—कवियों या लेखकों—

के प्रति कुछ विशेष सहानुभूति प्रदर्शित करते हुए उन्हें प्रोत्साहन देने के कर्तव्य का पालन ही न करे। किन्तु भाव यह है कि वह एक उचित मर्यादा के अन्दर रह कर जहाँ तक उसका ऐसा करना क्षम्य तथा मान्य है और किसी को खलनेवाला नहीं है वहीं तक ऐसा करे, और सुरुचि, सद्भावना, और सौजन्य का पूरा परिचय देते हुए अपनत्व या ममत्व के साथ अपनी विशेष सहानुभूति प्रदर्शित करे। अपनी विशिष्ट रुचि और स्वतंत्र धारणा के साथ उसे लोक-रुचि और अन्य जनों की भी धारणा का ध्यान रखना तथा उनका भी यथोचित सम्मान करना चाहिए। अपने इस अधिकार की मर्यादा का भी उसे पूरा विचार रखना चाहिए।

इसके साथ ही यह भी स्मरणीय है कि उसे अपनी कमज़ोरियों तथा अपनी भूलों के लिए भी कुछ जगह छोड़ देना चाहिए और यह न विचारना चाहिए कि बस वही सर्वज्ञ या विशेषज्ञ है और जो कुछ वह कहता है वह निर्विवाद तथा सर्वांग सत्य होकर मान्य है, वरन् उसे अपनी योग्यता, दृष्टि, बुद्धि आदि के सीमित होने का निरंतर ही ध्यान रखना चाहिए और यह समझना चाहिए कि उससे भी भूल हो सकती है और कुछ दूसरे लोग भी हैं जो उससे कुछ अधिक योग्यता, क्षमता आदि रखते हैं। ऐसा ध्यान रखते हुए उसे अपनी अनुमति या अपने निर्णय को—यदि वह कहीं किसी प्रकार किसी विशेष योग्य व्यक्ति के द्वारा अनुचित बताया

जाता है, पुनर्विचार करके सुधारने वा संशोधित आदि करने के लिए प्रसन्नता और धन्यवाद के साथ सर्वदा तैयार रहना चाहिए। जिन विषयों को वह विवाद-ग्रस्त तथा मतभेद-पूर्ण समझता है उन पर अपने विचार प्रकट करते समय उसे पूर्णरूप से विचार कर लेना चाहिए और बहुत सतर्कता के साथ समस्त प्राप्त मतों को दिखलाते हुए स्पष्टरूप से अपना मत प्रकट करना चाहिए और ऐसा करते हुए यह प्रयत्न भी करना चाहिए कि उससे किसी का अपमान या अनिष्ट न हो सके। ऐसा करते हुए उसे हठवादिता को नितान्त ही दूर रखना चाहिए। यह एक बहुत बड़ा और व्यापक दुर्गुण है जो अपने प्रेमी को नष्ट करके ही छोड़ता है।

प्राय: प्रत्येक मनुष्य रुचि-वैचित्र्य के प्रभाव से अपने कुछ विशिष्ट सिद्धान्त और विचार रखता है। प्रकृति-पार्थक्य के कारण उसे कुछ विषय विशेष प्रिय और रोचक होते हैं, इनमें उनका अपनत्व-सा स्थापित हो जाता है, वह उन्हीं में विशेषता देखता तथा उन्हीं को उत्तम मानने लगता है, साथ ही उनके विरोधी सिद्धान्तों और विषयों या विचारों से वह उदासीन और विमुख-सा रहता है, उसे वे अप्रिय और निकृष्ट से प्रतिभात होते हैं, उन्हें इसी लिए वह निंदनीय मानता और दूर करने की चेष्टा करता है। समालोचक के लिए भी यही बात है, वह भी अपने कुछ विशिष्ट सिद्धान्त या विचार रखता है और उसके भी कुछ अपने प्रिय और

रोचक विषय होते हैं, जिनका वह सर्वत्र समर्थन एवं प्रतिपादन करता और उनके विलोम विचारों का विरोध या खंडन करता। वास्तव में यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो यह विरोध ठीक नहीं। यह विश्व ही विरोधालंकार से अलंकृत है क्योंकि यह रचा उस महान् परमात्मा के द्वारा गया है जिसमें सर्वथा विरोध ही का भाव दिखाई पड़ता है यद्यपि वास्तव में ऐसा है नहीं।

ऐसी दशा में सत्समालोचक के लिए बड़ी कठिनाई पड़ जाती है। इस कठिनाई से वह तभी बच सकता है और विरोध की उलझन को तभी सरलता से सुलझा सकता है जब उसमें सहानुभूति की सुन्दर प्रवृत्ति हो। इसकी सहायता से वह अपने विशिष्ट विचारों और प्रिय विषयों के प्रभावों को रखते हुए भी धीरता और गंभीरता के साथ शान्त रहकर अपने अप्रिय और विरुद्ध विषयों या विचारों की रचनाओं और उनके लेखकों या कवियों की सत्समालोचना कर सकता है। उसकी सहानुभूति का उन रचनाओं के रचयिताओं के साथ होना तो स्वाभाविक ही है जो उसी के जैसे विचार रखते हैं, किन्तु वह उनके प्रति भी अपनी सहानुभूति रख सकता है जिनको वह अपने विचारों के विरोधी विचारों का प्रतिपादक जानता है।

सत्समालोचक के लिए अपनी आलोच्य वस्तु और उसके कर्ता के प्रति हार्दिक सहानुभूति का रखना यदि अनिवार्य

नहीं तो अत्यावश्यक अवश्य ही है। लेखक या कवि की परिस्थिति, योग्यता, दशा आदि का पूर्ण विचार रखते हुए इनके उन प्रभावों का भी, जिनका लेखक या कवि पर पड़ना उतना ही स्वाभाविक है जितना स्वत: समालोचक पर, ध्यान रखना चाहिए और यह सोचना चाहिए कि ऐसी परिस्थिति आदि में कैसी रचना हो सकती है और कैसी उस विशिष्ट लेखक या कवि के हाथों से हो सकी है। उसे ऐसा करते हुए अपनी कल्पना की सहायता से अपने को कुछ समय के लिए उसी दशा में कर लेना चाहिए जिस दशा में लेखक ने रहकर आलोच्य वस्तु की रचना की है। ऐसा कर लेने के पश्चात् ही उसे आलोच्य वस्तु का निरीक्षण या अवलोकन करना चाहिए और परिस्थिति आदि के प्रभावों से बलात् आ जानेवाले दोषों को कोमल दृष्टि से देखते हुए गुणों का विचार करना चाहिए। इस प्रकार विचार कर चुकने पर ही उसे अपना मत निश्चित करना उचित है। ऐसा करना ही सहानुभूति का रखना है।

लेखक या कवि के साथ सहानुभूति रखते हुए भी समालोचक को इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि उसकी सहानुभूति इतनी अधिक न बढ़ जाये कि उसे उसमें गुण ही गुण दीखने लगें और यदि दोष भी कहीं दृष्टिगोचर हों तो वे सहानुभूति-प्रेरित कृपा एवं क्षमाभाव के द्वारा क्षम्य ही हो जावें। अत: सहानुभूति को न्याय और नीति के द्वारा

मर्यादित कर रखना ही उचित होगा। सहानुभूति की मात्रा उतनी ही हो जितनी से निष्पक्षता आदि अन्य आवश्यक गुणों को धक्का न पहुँच सके।

इसी लिए समालोचक को चाहिए कि वह शान्त, धीर, गंभीर और समदर्शी हो। उस पर राग-द्वेष, एवं अन्य ऐसे ही मनोविकारों का विशेष अनर्थकारी प्रभाव न पड़ सके, वह विरुद्ध परिस्थितियों में भी सम रह कर धीरता से अपने कार्य के करने में समर्थ हो। यदि वह शान्त, धीर और गंभीर न होगा और उस पर मनोवेगों का शीघ्र और गहरा प्रभाव पड़ सकेगा तो वह सत्समालोचना के अयोग्य ठहरेगा, क्योंकि ऐसी दशा में वह या तो ईर्ष्या-द्वेषादि के प्रभाव से अनुपयुक्त रूप से समालोचना करता हुआ दुरालोचना करने लगेगा या पक्षपात के वश होकर निंदा या स्तुति-प्रधान आलोचना कर बैठेगा।

समालोचक में उक्त गुणों के प्रभाव से ऐसी श्लाघ्य क्षमता आ जायेगी, जिससे वह अपने शत्रु-मित्र, प्रियाप्रिय प्रत्येक व्यक्ति की रचना को शान्तिपूर्वक समता से देख सकेगा और धीरता के साथ गंभीर आलोचना कर सकेगा।

इन गुणों के साथ ही यदि उसमें औदार्य या उदारता भी आ जाये तो वस्तुतः सोने और सुगंध की कहावत चरितार्थ हो जाये। बिना उदारता के ये गुण फीके से रहते हैं। उसे अपने वचनों, लेखों, भावों और व्यापारों सभी में पर्याप्त

उदारता रखनी चाहिए, तभी वह सबकी रचनाओं का यथेष्ट स्वागत करेगा और सब पर समदृष्टि रख सकेगा। "उदार-चरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्" के अनुसार समालोचक के लिए सभी एक से प्रिय होने चाहिए। ऐसा होने पर ही उसकी आलोचना निष्पक्ष और मान्य हो सकेगी।

उसमें उदारता की मात्रा इतनी होनी चाहिए कि वह अपने विपक्षियों अथवा विरोधियों के साथ भी प्रायः वैसा ही भाव रक्खे जैसा वह अपने पक्षवालों एवं प्रिय-जनों के प्रति रखता है। अपने ऊपर किये गये कटु कटाक्षों को उदारता-पूर्वक लेना और कटाक्षकारी के प्रति फिर भी सौजन्य का भाव रखना इसी गुण के प्रभाव से साध्य हो सकेगा, दूसरों के दोषों पर भी कृपा एवं मधुर दृष्टि डालते हुए कोमल और प्रिय वचनों से अपने मत का प्रकाशित करना इसी गुण से साध्य हो सकता है। इसी के फलस्वरूप में आलोचक में उस सहनशीलता का उदय एवं प्रकाश होता है जिसके प्रभाव से वह दुष्ट जनों की कटूक्तियों और उनके कठोर तथा निरर्थक आक्षेपों को सहन करते हुए सहर्ष अपने सत्पथ पर दृढ़ता के साथ बराबर चलता रहेगा।

वह गुण जिसका होना सत्समालोचक में अनिवार्य है, सहृदयता है। संस्कृत-काव्य-शास्त्र के प्रायः सभी आचार्यों का एक-स्वर से यही कहना है कि काव्य-महत्ता के निर्णय में सहृदय ही प्रमाण हैं। वे लोग उसी काव्य या रचना को

उत्तम मानते हैं और उसी को परिपक्क काव्य समझते हैं जिसे सहृदय जन विचार-पूर्वक देखकर सराहनीय ठहरा दें।*

वास्तव में काव्य का सम्बन्ध विशेषतः हृदय ही से है, क्योंकि उसमें हृदय से ही उत्पन्न होनेवाली भावनाओं (Feelings), मनोवेगों (Emotions) और इनसे व्यक्त होनेवाले रसों (Sentiments) का ही प्राधान्य रहता है। काव्यगत विचारों एवं भावों अथवा कल्पनाओं में भी इनकी ही प्रधान पुट रहती है। भावादि इन्हीं के साँचे में ढाले जाकर सरस बनाये जाते हैं और हृदय पर अपना प्रभाव सीधे सीधे डालते हैं। इसी लिए यदि काव्य हृदय या मन को सर्वथा समाकर्षित और प्रभावित करता हुआ मुग्ध नहीं कर सकता तो वह सत्काव्य नहीं माना जाता—

"तया कवितया किं वा, तया वनितया च किम्।
पद-विन्यास-मात्रेण, यया न संह्रियते मनः ॥"

इसी लिए काव्य की परीक्षा उस व्यक्ति के ही द्वारा अच्छी तरह की जा सकती है जिसमें हृदय होता है और जो रस-भावादि का मर्मज्ञ अथवा अनुभवी होता है। अस्तु, सहृदयता से तात्पर्य ऐसे हृदय की सत्ता से है जिसमें रसों की धारायें स्वभावतः ही प्रवाहित होती हों, जो कोमल, माधुरी-पूर्ण और मंजुल हो। काव्यालोचक अथवा यों कहिए कि साहित्यालोचक

---

* डा० झाकृत "कविरहस्य" पृ० २७।

के लिए सहृदयता इसी लिए अनिवार्य है। हाँ अन्य प्रकार के विषयों की आलोचना करनेवालों के लिए सहृदयता की उतनी अनिवार्यरूप से आवश्यकता नहीं, किन्तु यह भी बात नहीं कि उनमें सहृदयता की अनावश्यकता है। सहृदयता आलोचक-मात्र के लिए उपयोगी है।

सहृदयता से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध "सरसता" का है। सहृदयता और इसमें साहचर्य (Coexistence) एवं अन्योन्याश्रय (Interdependenee) सम्बन्ध है, दोनों एक साथ चलते और एक दूसरे से ऐसे मिले रहते हैं कि एक के बिना दूसरे की सत्ता असम्भव ही-सी होती है। अस्तु, जब सहृदयता का होना समालोचक में आवश्यक है तब सरसता की भी सत्ता उसमें अपनी पूर्ण महत्ता रखती और अनिवार्य ठहरती है।

सरसता से तात्पर्य यही है कि हृदय में रसों की मार्मिक अनुभूति हो और रसों का उस पर पूर्ण प्रभाव पड़ता हो। जब तक ऐसा हृदय किसी का न होगा तब तक उस पर रसों और भावों का, जिनका ही काव्य में प्राधान्य रहता है, प्रभाव ही न पड़ेगा और वह काव्य के प्रति उदासीन रहकर उसकी उपेक्षा ही करेगा। इसी लिए समालोचक में सरसता का होना अनिवार्य ही है। उसके हृदय को नीरस और शुष्क न होना चाहिए। नीरस अथवा अरसिक जन से कवि और काव्य दूर ही रहना चाहते हैं—

"इतरतानि दुःखानि यथेच्छया, वितरतानि सहे चतुरानन !
अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख ।।"

अब यह स्पष्ट ही है कि सत्समालोचक को रसिक या सरस होना अत्यावश्यक है। बिना सरसता के वह कवि-काव्य की आलोचना करने का अधिकारी ही नहीं समझा जाता।

इसके साथ ही, कवि या लेखक की भाँति, समालोचक को भावुक होना भी आवश्यक है। भावुकता भी सरसता के समान सहृदयता की सहयोगिनी या सहचरी है। इस गुण की यहाँ तक प्रधानता मानी गई है कि बिना इसके साहित्य या काव्य का वास्तविक लोकोत्तरानन्द, जो ब्रह्मानंद सहोदर के रूप में काव्य का एक सर्वप्रमुख उद्देश्य एवं फल माना गया है, प्राप्त ही नहीं हो सकता। भावुक जन ही सरस और भावपूर्ण काव्य से वस्तुतः मुग्ध होते हैं—

"निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ।।"

अस्तु कहना चाहिए कि भावुकता भी समालोचक के लिए अवश्यं धारणीय गुण है।

इन प्रमुख गुणों के साथ ही इनके ही सहयोगी अन्य गुण भी, जैसे सौंदर्योपासना, प्रकृति-प्रेम और लोकानुभूति, होने चाहिए।

ऊपर समालोचक के लिए जिन प्रमुख गुणों की आवश्यकता दिखलाई गई है वे प्रायः ऐसे हैं जिनमें से कुछ का सम्बन्ध तो

हृदय से है (जैसे—सरसता, भावुकता आदि) और कुछ का आत्मा एवं चरित्र से है (जैसे आत्मशुद्धि, उदारता, सत्य-प्रतिष्ठा आदि) अब हम उन गुणों की ओर भी संकेत करते हैं जो समालोचक के लिए इन्हीं के समान या इनसे भी अधिक रूप में आवश्यक हैं और जिनका सम्बन्ध मन-मस्तिष्क आदि से है।

मन या मस्तिष्क की स्वच्छता तो ऐसी है कि उसकी जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अनिवार्य आवश्यकता है, किन्तु अध्ययनादि कार्य करनेवालों के लिए तो यह एक ही पदार्थ है। विद्या-सम्बन्धी कोई भी कार्य बिना इसके हो ही नहीं सकता और यदि कुछ हुआ भी तो वह मूल्यवान् तथा प्रशस्त नहीं होता। मन और मस्तिष्क की स्वच्छता स्वाभाविक (प्रकृति-प्रदत्त या ईश्वर-प्रदत्त) और अभ्यास-साध्य दोनों है। जन्म से ही ऐसे व्यक्तियों के मन और मस्तिष्क (mind and brain) स्वच्छ और निर्मल (clear) रहते हैं, जिनके जन्मान्तर संस्कार उत्तम होते हैं। स्वच्छ मस्तिष्क में प्रत्येक विचार, या पदार्थ का सच्चा और शुद्ध प्रतिबिम्ब स्वच्छता के साथ पड़ता है और उसकी मानसिक दृष्टि (mental vision) बड़ी ही दिव्य और पारदर्शक होती है। इसके साथ ही मन को स्वच्छ और मलिन बनाना हमारे हाथ में भी है, सत्य के द्वारा मन शुद्ध और निर्मल होता है।* साथ ही उसमें स्वच्छता आती है सत्य-

*"मनः सत्येन शुद्ध्यति"।

ज्ञान और तत्सम्बन्धी उत्तम विचारों या भावों से। मनरूपी दर्पण की मलिनता को हम सद्विचाररूपी वारि से धोकर दूर कर सकते हैं। इसी प्रकार कलुषित विचारों से उसे दूषित और मलिन भी किया जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए सद्विचारों के द्वारा अपने मन-मस्तिष्क को स्वच्छ और निर्मल करने की महती आवश्यकता है। प्रत्येक विद्या-व्यसनी तथा समालोचक के लिए तो यह अनिवार्य ही है। समालोचक अपनी आलोच्य वस्तु के समझने तथा उस पर विचार करने में तभी सफल हो सकता है जब उसका मन ऐसा स्वच्छ और शुद्ध हो कि उस पर प्रत्येक विचार या पदार्थ का सच्चा और स्पष्ट प्रतिबिम्ब पड़ सके।

सर्वथा स्वच्छ और शुद्ध मन-मस्तिष्क में ही विमल बुद्धि और निर्मल विवेक की सत्ता पाई जाती है। बुद्धि और विवेक को भी तीव्र तथा निर्मल करने के लिए सद्ज्ञान और सत्संग की आवश्यकता है। पूर्व जीवन के सुसंस्कारों तथा सांप्रतिक सत्कर्मों के ही प्रभाव से बुद्धि का निर्माण होता है*। सद्विचारों और श्रेष्ठ भावों से बुद्धिरूपी हीरे को स्वच्छ करके चातुर्य और कौशल के द्वारा सुन्दर या चारु चमकीला बनाना हमारा मुख्य कर्तव्य है। समालोचक

* "बुद्धिः कर्मानुसारिणी"।

इसका अपवाद नहीं, उसे भी इसकी महती आवश्यकता है। अस्तु, निरन्तर ही ज्ञानानुभव की सहायता से उसे इसके निखारने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। उच्च विचारों के सद्ग्रंथों का अवलोकन और उच्च कोटि के विद्वानों का सम्पर्क ही बुद्धि को उच्च बनाता है*।

अस्तु, इन प्रमुख उपायों से समालोचक को अपनी बुद्धि के विकसित करने का अनवरत प्रयत्न करते रहना चाहिए।

बुद्धि के तीव्र होने पर ही विचार-शक्ति और कल्पना-शक्ति में तीव्रता और प्रबलता आती है। साथ ही किसी विषय के मर्मों या रहस्यों के समझने, उन्हें ग्रहण करके मस्तिष्क में चिरकाल के लिए संचित कर रखने तथा उन पर विचार करके निर्णय करने में भी दक्षता और क्षमता आ जाती है। विमल विवेक ही के द्वारा आवश्यकानावश्यक बातों का विश्लेषण करके उनमें से उपयोगी एवं उपयुक्त बातों को चुनकर उनका संश्लेषण करते हुए सैद्धान्तिक एवं वैज्ञानिक शैली से उपयोग करने में पटुता प्राप्त होती है। समालोचक के लिए इन सबकी वैसी ही महती आवश्यकता है जैसी अन्य विद्वज्जनों या ज्ञानोपासकों के लिए है। इन शक्तियों के भो उपार्जन के प्रायः वे ही साधन हैं जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है। इनके साथ

---

* "नीच संग बुधि नीच है, समसों रहति समान।
ऊँच संग ऊँची उठै, पंडित कहत प्रमान॥"

ही स्मरण-शक्ति की भी वृद्धि होती है जो अपनी महत्ता और सत्ता स्वतन्त्ररूप में रखती है।

अस्तु, अब कह सकते हैं कि समालोचक में यदि उक्त मानसिक शक्तियाँ ईश्वर-प्रदत्त रूप में हैं तो अति उत्तम है और यदि स्वभावतः ही ये शक्तियाँ विशेष प्रखर और प्रबल नहीं तो समालोचक को इन्हें तीव्र और परिवर्धित करते हुए परिष्कृत करने का यथासाध्य पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए। इनकी अल्पता उसकी क्षमता और शक्ति के साथ ही उसकी योग्यता और उसके अधिकार को संकीर्ण कर देती है।

मानसिक शक्तियों में से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और आवश्यक शक्ति प्रत्येक सत्समालोचक के लिए वह है जिसे "तर्कणाशक्ति" कहते हैं (Power of reasoning or Logical Talent)। यही वह शक्ति है जिसके प्रभाव से समालोचक तर्क के साथ अपनी आलोच्य वस्तु का समावलोकन करते हुए उसके गुणदोषादि का विश्लेषण एवं संश्लेषण कर उस पर अपना निर्णय (Judgment) देता और मत प्रकट करता है। इसी लिए बिना इस शक्ति के समालोचक का कार्य हो ही नहीं सकता। जितनी तीव्र और प्रबल यह शक्ति होगी, जितनी ही इसमें सबलता, निर्मलता और प्रौढ़ता होगी आलोचना उतनी ही अच्छी ठहर सकेगी।

यों तो यह शक्ति न्यूनाधिक रूप से प्रायः सभी मनुष्यों में व्यापक रूप से देखी जाती है किन्तु अपने अच्छे रूप में

यह शक्ति उन्हीं विद्वानों में होती है जो इसे ज्ञान और अनुभव के साथ ही साथ न्याय या तर्कशास्त्र के यथेष्ट अध्ययन के द्वारा प्रबल और प्रौढ़ करते हुए प्रवर्धित कर लेते हैं।

विविध मतों और सिद्धान्तों के प्रभाव से उठनेवाले वाद-विवाद का संतोलन तथा उनमें से सत्य, शुद्ध तथा यथार्थ तत्त्व का निर्णय इसी शक्ति के द्वारा होता है। अस्तु, यह शक्ति एक सत्समालोचक के लिए सर्वथा अनिवार्यरूप से ही आवश्यक एवं प्रवर्धनीय है।

इस शक्ति के साथ ही स्थिर बुद्धि का होना भी अभीष्ट है क्योंकि जब तक बुद्धि या मन में यथोचित स्थैर्य नहीं होता तब तक वह एक वस्तु पर पूर्णरूप से स्थिर रहकर विचार नहीं कर सकता और यत्र-तत्र चांचल्य के प्रभाव से—जो उसके लिए स्वाभाविक ही सा है—दौड़ता है। मानसिक चांचल्य (Fickleness of mind) प्रत्येक समालोचक के लिए विशेष रूप से अनर्थकारक है।

इसी प्रसंग में यह कह देना भी ठीक जान पड़ता है कि समालोचक में इन गुणों के साथ ही प्रज्ञाबुद्धि, एवं मेधाशक्ति का भी होना अच्छा है। यदि उसमें प्रत्युत्पन्नमति और उससे प्रकट होनेवाली उपस्थितोत्तरता या वाक्पटुता (हाज़िरजवाबी) तथा वह चातुरी जिसे सभाचातुरी भी कहते हैं, पाई जाती है तो बहुत ही लाभकारी एवं अच्छी बात है। तीनों ही उपयुक्त

और उपादेय हैं न केवल समालोचक के ही लिए वरन् प्रत्येक व्यावहारिक व्यक्ति के लिए। इनके साथ ही विस्तृत अध्ययन, सूक्ष्म या तीव्र अन्वीक्षण बुद्धि और मर्मग्राहिणी प्रज्ञा भी आलोचक के लिए आवश्यक हैं।

कविवर क्षेमेन्द्र के मतानुसार जिस प्रकार कवि के लिए बहुज्ञ होना (अनेक विषयों का ज्ञान रखना या बहुत-सी बातों से परिचित होना) आवश्यक है उसी प्रकार एक सत्समालोचक और विशेषतया साहित्यसमालोचक के लिए भी बहुज्ञ और बहुश्रुत होना अनिवार्य है। उसे यथासाध्य अनेक विषयों का यथोचित ज्ञान रखना आवश्यक है, तभी वह आलोच्य वस्तुओं या विषयों की—जिनमें प्राय: अनेक भिन्न भिन्न विषयों से सम्बन्ध रखनेवाली बातों का समावेश पाया जाता है—यथोचित आलोचना कर सकेगा। इसके लिए उसे सर्वदा स्वाध्याय (विविध पुस्तकों के समवलोकन) और सत्पुरुषों के सत्संग से सहायता लेनी चाहिए। जितना ही विस्तृत अध्ययन और विशद ज्ञान उसमें होगा उतना ही अच्छा और लाभकारी है।

प्राय: प्रत्येक व्यक्ति अपना एक विशेष प्रिय विषय रखता है और उसमें उसकी विशेष रुचि रहती है इसी लिए वह उस विषय के अध्ययन में अधिक अनुराग के साथ सदा लगा रहता है और उसका विशेष ज्ञान प्राप्त कर लेता है। उस विषय से उसकी तल्लीनता और आत्मीयता के कारण अधिक

घनिष्ठता हो जाती और उसकी आत्मा उसके अन्तर्गर्भ में सब प्रकार प्रविष्ट-सी हो जाती है जिससे उसके सभी मर्मों या रहस्यों का मार्मिक ज्ञान उसे प्राप्त हो जाता है। अस्तु उस विषय पर उसको पूरा अधिकार-सा हो जाता है और वह उसका विशेषज्ञ होकर उसके सम्बन्ध में अपने निर्णय या मत के प्रकट करने का सच्चा अधिकारी ठहरता है। अतएव कहना चाहिए कि किसी विषय या वस्तु का समालोचक वास्तव में वही व्यक्ति है जो उस विषय या वस्तु का सच्चा विशेषज्ञ और अधिकारी है। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि केवल किसी एक विषय की विशेषज्ञता ही का होना समालोचक के लिए बस या अलम् है। यही गुण सब कुछ है यह समझना भ्रम-मात्र है। किसी विषय का विशेषज्ञ होते हुए भी अन्य गुणों से विहीन होने पर कोई व्यक्ति सफल और सच्चा समालोचक नहीं हो सकता। इस गुण के साथ ही उसमें बहुज्ञता, तर्क-पटुता आदि का भी होना अनिवार्य है, अन्यथा वह समालोचन-कार्य का सच्चा अधिकारी ही नहीं है।

अस्तु समालोचक के लिए अपने प्रिय विषय में विशेषज्ञता प्राप्त करने के साथ ही उक्त अन्य गुणों का प्राप्त करना भी सर्वथा समापेक्षित है। उसका यह भी एक प्रमुख कर्तव्य है कि वह उसी विषय से सम्बन्ध रखनेवाली रचनाओं को समालोचनार्थ चुने जिस विषय पर उसका अच्छा अधिकार है। ऐसा करने पर ही उसकी आलोचना सच्ची, पुष्ट, और

सर्वमान्य होकर स्थायी साहित्य की संचनीय सम्पत्ति हो सकेगी, और वही मूल्यवान् और व्यापक भी हो सकेगी।

इसके साथ ही सत्समालोचक का यह भी कर्तव्य है कि वह अपने को अन्वेषक, गवेषक और मननशील बनाने का भी यथासाध्य पूर्ण प्रयत्न करे। उसे विद्याव्यसनी ही होना चाहिए। भिन्न भिन्न कलाओं और शास्त्रों का अनुभव एवं ज्ञान प्राप्त करने में सब काल उसे दत्तचित्त होना चाहिए। साहित्यादि प्रत्येक विषय की परंपरा-प्रणाली से पूर्ण परिचय प्राप्त करते हुए उसकी परिवर्तनशील प्रगति को निरंतर निरीक्षण करते और उसकी नई विशेषताओं का यथेष्ट परिचय प्राप्त करते रहना चाहिए। भाषा और साहित्य के संसार में कब, कैसे, क्यों और किसके द्वारा (किन प्रभावों से) परिवर्तन हुए हैं, हो रहे हैं तथा हो सकते हैं ऐसी समस्त बातों पर पूर्णरूप से विचार करना चाहिए। शैलियों, रीतियों आदि के ऐतिहासिक या क्रमिक विकास का अवलोकन करते हुए उनकी प्रगतियों में होनेवाले नवीन परिवर्तनों का यथोचित ज्ञान उसे रखना चाहिए। सामाजिक, राजनीतिक, एवं धार्मिक आदि प्रभावों से परिवर्तित या परिष्कृत होनेवाली विचार-धाराओं का मार्मिक परिचय प्राप्त करते हुए उनकी परिवर्तन-शील प्रगतियों को भी सध्यान देखते और उनकी विशेषताओं का संचयन करते रहना चाहिए। ऐसा न करने से समालोचक के बहक जाने की बहुत बड़ी

आशंका है। एक सहस्र वर्ष प्राचीन सिद्धान्तों, विचारों एवं शैलियों आदि के आधार पर—जिनमें क्रमशः परिवर्तन या परिष्कार होते होते अब विराट् अन्तर आ गया है—किसी नवीन रचना—नवीन शैली और विचार-धारादि के अनुसार नये सिद्धान्तों के आधार पर लिखी गई पुस्तक—की समय-समाज-बहिष्कृत शैली या रीति से आलोचना करना किसी भी पुराने विचार के सुयोग्य समालोचक के लिए अपना उपहास कराना-मात्र है।

लोक-व्यवहार में कुशलता प्राप्त करना भी समालोचक के लिए उपयोगी और उपयुक्त है। लोक-रुचि, जनता की विचार-धारा, प्रवृत्ति आदि का उसे ध्यान रखना उतना ही अभीष्ट है जितना एक सुलेखक और सुकवि के लिए। सभ्यता, संस्कृति एवं शिष्टता आदि का क्या रूप है, उनमें क्या क्या नवीन विशेषतायें आ गई हैं, यह देखना भी उसका कर्तव्य है। यदि उसकी आलोचना में इन सबकी अवहेलना की गई है तो वह आलोचना कितनी ही सार-गर्भित और उपयुक्त क्यों न हो लोक-प्रशस्त और सर्वमान्य होती हुई व्यापक नहीं हो सकती।

अब इन प्रमुख गुणों और आवश्यक कर्तव्यों के पश्चात् यहाँ उन गुणों का भी सूक्ष्म उल्लेख करना उचित जान पड़ता है जो सम्पर्क-प्रभावलब्ध एवं अभ्यास-साध्य होते हैं। इन गुणों का सम्बन्ध विशेषतया भाषा-ज्ञान एवं रचना या लेखन-कला से है।

भाषा-ज्ञान एवं रचना-कला-पटुत्व

साहित्यिक समालोचना के लिए, कुछ आचार्यों के मतानुसार, वही व्यक्ति सच्चा अधिकारी ठहरता है जो विद्वान् या पंडित है, जो साहित्य का विशेषज्ञ और काव्य-शास्त्र का मर्मज्ञ है। कवि तो केवल काव्य की रचना ही करता है, उसके मर्म का ज्ञान पंडित ही को होता है और इसी लिए वही उसकी आलोचना भी कर सकता है—"कवि: कवयते काव्यं मर्म जानाति पण्डित:" का यही तात्पर्य है।

आलोचना करते हुए आलोचक के लिए आलोच्य रचना की भाषा पर भी यथोचित विचार करना आवश्यक होता है। यद्यपि भावों को प्राधान्य दिया जाता है तथापि भाषा का भी महत्त्व उसकी अपेक्षा कुछ न्यून नहीं माना जाता। इसलिए आलोचक के लिए भाषा-विज्ञ होना भी अत्यावश्यक है।

आलोचक के भाषा-ज्ञान को हम इस प्रकार विभक्त कर सकते हैं। उसे भाषा के व्याकरण में पूर्ण दक्ष होना चाहिए अर्थात् गद्य एवं पद्य दोनों ही में घटित होनेवाले व्याकरण-सम्बन्धी समस्त साधारणासाधारण नियमों, उनके अपवादों अथवा विशिष्ट उपयोगों से पूर्णतया परिचित होना चाहिए।

भाषा की भिन्न भिन्न शैलियों, कहावतों (उनके नाना रूपों) विशेषताओं तथा प्रयोगों (Idioms) का न केवल परिचय ही आपेक्षित है वरन् इनके उपयोग में यथेष्ट अभ्यास होना भी उसके लिए आवश्यक है।

साथ ही सुन्दर रचना के समस्त नियमों का उसे यथोचित ज्ञान होना चाहिए। रचना के भिन्न भिन्न रूपों या भेदों से भी उसे पूर्णतया परिचित होना अनिवार्य है। बिना इसके वह आलोच्य-रचना की समालोचना ही यथार्थ रूप से न कर सकेगा। किस प्रकार की रचना में कैसी भाषा, कैसी शैली तथा कैसे चमत्कारों (Excellence) का उपयोग वाञ्छनीय और सुन्दर होता है, कैसी रचना में कैसा वाक्य-विन्यास, कैसी शब्दावली और कैसी पद-व्यवस्था होनी चाहिए, रचना का परिपाक क्या है इत्यादि बातों का उसे यथेष्ट ज्ञान रखना चाहिए।

कुछ आचार्यों एवं समालोचकों का यह मत है कि किसी रचना की आलोचना के लिए वास्तव में वही व्यक्ति अधिकारी है जो अन्य उक्त गुणों से युक्त होता हुआ उस प्रकार की रचना करने में स्वयमेव दक्ष हो—अर्थात् यदि किसी काव्य की आलोचना करनी है तो एक चतुर एवं विद्वान् कवि ही उसके लिए उपयुक्त है—

"अपूर्वो भाति भारत्याः काव्यामृतफले रसः।
चर्वणे सर्वसामान्ये स्वादवित् केवलं कविः॥"

इसी प्रकार नाटक, गद्यकाव्य या उपन्यास, कथा आदि की आलोचना करने का वही व्यक्ति अधिकारी है जो इनकी रचनायें सफलतापूर्वक कर चुका, करता और कर सकता है। अस्तु गद्य और पद्य में विविध प्रकार की रचनायें करने

में दक्षता या अभ्यास रखनेवाला सुलेखक और विद्वान् ही एक सफल तथा सच्चा आलोचक हो सकता है।

आलोचक के लिए लेखादि के लिखने में भी पूर्णतया चतुर और अभ्यस्त होना चाहिए। जितनी ही रचना-कला-कुशलता या लेखन-कला-पटुता उसमें होगी उतनी ही उसकी आलोचना सुन्दर, प्रभावपूर्ण और अवलोकनीय हो सकेगी। जिस प्रकार की आलोचना वह लिख रहा है, उसी के उपयुक्त उसकी भाषा एवं शैली भी होनी चाहिए। आलोचना के भेद और उनके अनुकूल भाषा एवं शैली आदि का सूक्ष्म विवेचन किया ही जा चुका है।

यहाँ जिन गुणों का उल्लेख किया गया है उन सब गुणों का किसी एक आलोचक में होना या पाया जाना यदि सर्वथा असम्भव नहीं तो दुस्साध्य अवश्यमेव है। अस्तु आलोचन-कार्य के लिए अपने को तैयार करनेवाले व्यक्ति को चाहिए कि वह इनमें से जो गुण बहुत ही प्रधान और अनिवार्य हैं उन्हें अभ्यास के द्वारा उपार्जित करे।

साधारणतया एक सच्चे समालोचक के लिए मनोजागृति (Alertness of mind) या मनस्तत्परता (Readiness of mind), तर्कोपस्थितता (Presence of reasoning), तीव्र अन्तर्दृष्टि (Keen or sharp insight), भाव-भावनाओं के प्रभावों की द्रुत अनुभूति, गुणों या विशेषताओं के खोजने-समझने और ग्रहण करने में क्षमता तथा सहृदयता (Cordial

and natural warmth of heart) की अनिवार्य रूप से आवश्यकता है। प्रतिभा, प्रज्ञा तथा योग्यता तो अनिवार्य हैं ही। इनके साथ ही मनःशुद्धता (रागद्वेषादिजन्य कलुषता की हीनता) जिसके प्रभाव से वह निष्पक्ष रहकर वस्तुओं को देखकर निर्णय कर सकता है, तथा सुरुचि (Good sense or taste) का भी होना आवश्यक है। इनके साथ ही कल्पना-स्फूर्ति, चैतन्य भावुकता तथा शिष्टता का सामंजस्य होना सोने में सुगंध की कहावत को चरितार्थ करता है।

किसी आलोचक की आलोचना का अवलोकन करते हुए हमें उसके पूर्वार्जित ज्ञानानुभव, उस पर पड़े हुए देश-कालादि के प्रभावों, उसकी ऊनतादि को ध्यान में लाकर इनके लिए कुछ छूट भी दे देनी चाहिए और इनके कारण उसकी आलोचना में जो कुछ पक्षपात तथा अनावश्यक या अनुपयुक्त न्यूनाधिकता हो उसे क्षम्य समझना चाहिए।

कभी कभी कोई आलोचक किसी रचना की आलोचना करते हुए अपने किसी विशेष स्वभाव, सिद्धान्त तथा रुचि-वैचित्र्य आदि से ऐसा प्रभावित हो जाता है कि कुछ का कुछ कहने या लिखने लगता है। कभी कभी वह अपनी योग्यता के प्रकाशन तथा उससे प्राप्त होनेवाली वाहवाही की आशा एवं लालसा में ही निमग्न हो उन बातों की व्याख्या या विवेचना करने लगता है जो वस्तुतः आलोच्य रचना से सर्वथा परे हैं और रचयिता ने जिनकी ओर संकेत भी

नहीं किया। आलोचना का ऐसा ही अंश खटकनेवाला और डबानेवाला होता हुआ अनावश्यक समझा जाता है।

आलोचना में आलोचक जो कुछ अपनी आलोच्य रचना के द्वारा उसके रचयिता में तथा जो कुछ वह स्वयमेव अपने में (अंदर) पढ़ता, देखता तथा समझता है, उसके प्रकट करने का प्रयत्न करता है, इसी लिए आलोचना में आलोच्य रचना, रचयिता तथा आलोचक तीनों का ही प्रतिबिम्ब रहता है।

इन गुणों के साथ ही आलोचक के लिए आवश्यक होता है शिक्षा या विद्योपार्जन (ज्ञानानुभवप्राप्ति) और मन के नियंत्रित (Disciplined) करने की। विद्या (ज्ञानानुभव) के प्रभाव से उसके दृष्टिकोण और विचार-क्षेत्र में विकास-प्रकाश या विस्तार आता है और निर्णय के लिए उसे एक सुदृढ़ आधार प्राप्त हो जाता है। अपने ज्ञानानुभव को कार्यरूप में लाने तथा उसका उपयोग करने के लिए उसे मानसिक नियंत्रण की आवश्यकता होती है। जितनी ही अधिक मात्रा में ये दोनों उसमें विद्यमान होंगे उतनी ही अधिक सफलता उसे आलोच्य रचनाओं तथा उनके रचयिताओं के समझने और उन पर निर्णय करने में प्राप्त हो सकेगी। यदि इन दोनों की उसमें कमी होगी तो उसके आलोचनात्मक विचार रुचिर-रोचक तथा सांकेतिक या भावपूर्ण होते हुए भी मूल्यवान् न ठहर सकेंगे।

समालोचक के लिए केवल अपनी भाषा और उसके साहित्य का ही ज्ञान रखना आवश्यक नहीं वरन् उसे अन्य

भाषा या भाषाओं तथा उनके साहित्यों का भी यथेष्ट परिचय प्राप्त करना श्रेयस्कर होता है। इस विस्तृत साहित्यिक ज्ञान से उसकी योग्यता तथा क्षमता का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है। विपरीत इसके यदि वह केवल अपनी ही भाषा तथा उसके ही साहित्य का अनुरागी, सेवी तथा ज्ञाता है तो उसके निर्णय में अवश्यमेव औदार्य की कमी तथा संकीर्णता की प्रधानता हो जाती है।

साहित्य-ज्ञान से तात्पर्य है साहित्य-शास्त्र और साहित्य के समस्त उत्तम ग्रंथ-रत्नों के मार्मिक और आवश्यक परिचय से, चाहे वे ग्रंथ-रत्न प्राचीन हों या अर्वाचीन।

मानसिक नियंत्रण के लिए कोई विशेष नियम या सिद्धान्त नहीं दिये जा सकते। मन को शुद्ध, निष्पक्ष, और शिष्ट केवल अभ्यास, सत्संग और ज्ञानानुभव के द्वारा ही बनाया जा सकता है। अपने कर्तव्य-कर्म का यथार्थ ज्ञान तथा अपने उत्तरदायित्व की सुदृढ़ और सच्ची धारणा भी उसे योग्य और अधिकारी बनाने में सहायक है।

आलोचना के अंग

आलोचना के अंगों से तात्पर्य यहाँ उन बातों से है जो आलोचन-क्रिया की प्रगति का निर्माण करती हैं, अर्थात् जो जो बातें एक आलोचक को अपने आलोचनकार्य में करनी पड़ती हैं, जिनके ही आधार पर उसे अपने कार्य को यथाक्रम प्रगतिशील करना पड़ता है और जिन्हों के द्वारा उसे एक निश्चित निर्णय तक जनता या पाठकों को ले जाना पड़ता है।

आलोचना करने से पूर्व आलोचक को क्या तैयारी करनी पड़ती है इसका विवेचन सूक्ष्मरूप से प्रथम ही किया जा चुका है। यहाँ हम यह मान लेते हैं कि आलोचक में जिन गुणों के होने की आवश्यकता है वे सब एक आलोचक में विद्यमान हैं और वह अपने कर्तव्य-कर्म का मर्म भी अच्छी तरह जानता है। ऐसा सुयोग्य आलोचक जब अपने आलोचन-कार्य के पथ पर चलने लगता है तब उसे कैसे प्रगतिशील होना पड़ता है, वह किस प्रकार अपने कार्य को प्रवाहित करता हुआ आगे बढ़ता जाता है और उसे अपनी गति में कहाँ, कब और कैसा परिवर्तन या परिमार्जन आदि करना पड़ता है, इन सब बातों पर ही अब हमें यहाँ प्रकाश डालना अभीष्ट है।

एक सुयोग्य समालोचक का आलोचन-कार्य उसकी आलोच्य-रचना के निरीक्षण से प्रारम्भ होता है। अर्थात् उसे अपने कार्य का श्रीगणेश या अथ आलोच्य वस्तु को सब प्रकार, सब ओर से देखने से ही होता है। उसे आलोच्यरचना को सध्यान आद्योपान्त पढ़ना पड़ता है और रचयिता के भावादि के समझने का पूर्ण प्रयत्न करना पड़ता है। इसी के साथ उसे यह भी देखना पड़ता है कि लेखक जो कुछ कहना चाहता है वह उसकी भाषा के द्वारा सत्यता या यथार्थता के साथ सुचारु रूप से व्यक्त किया जा सका है या नहीं और इसमें वह कहाँ तक सफल हो सका है।

इसके उपरान्त उसे भाषा के रूप-सौंदर्य की ओर दृष्टि डालनी पड़ती है। भाषा की शुद्धता (व्याकरण के नियमोपनियमों तथा लौकिक प्रयोगों के साथ उसकी समानुकूलता तथा संयतता) प्रौढ़ता और विदग्धता का भी उसे ध्यान रखना पड़ता है। साथ ही भाषा में कला-कौशल-कृत चमत्कारों और प्रभावोत्पादकता की ओर भी दृष्टि-पात करना उचित होता है। यही रचना-चातुर्य निरीक्षण है, और इसका एक विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है।

इसके अनन्तर इस व्यापक निरीक्षण से रचना का यथेष्ट परिचय प्राप्त हो जाने पर आलोचक को रचना की वे सब बातें स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाती हैं जो आलोचना के लिए आवश्यक, अनावश्यक, और उचित या अनुचित ठहरती हैं। रचना के

दोष-गुण, उसकी ऊनता या पूर्णता, सफलता एवं असफलता आदि भी उसके मानसदर्पण पर प्रतिबिम्बित हो जाती है। अस्तु अब उसे अपने दृष्टिकोण के (यदि कोई है ?) अनुसार उस रचना के गुण-दोषों अथवा उसकी अच्छाइयों और बुराइयों को पृथक् छाँटकर रखना या विलग करना पड़ता है, इसी क्रिया को विश्लेषण (Analysis) या पृथक्करण कहते हैं। इस क्रिया से रचना के अंगप्रत्यंगों और उसके अंतरंग या बहिरङ्ग रूपों का सब प्रकार स्पष्टीकरण हो जाता है और उनकी सबलता, निर्बलता, और मौलिक विशेषता आदि का पता चल जाता है। तदुपरान्त आलोचक को यह देखना पड़ता है कि रचना के गुणों और दोषों में क्या अनुपात है, किनमें कितनी सबलता एवं प्रभावोत्पादकता है, दोनों में पारस्परिक कैसा सम्बन्ध है, किससे कितनी दूर तक रचना को हानि या लाभ पहुँचा है। यह देखने के लिए आलोचक को दो पृथक् कक्षाओं में दोषों, गुणों, आवश्यक और अनावश्यक बातों आदि को रखना पड़ता और उनकी पृथक् समष्टि या जाति बनानी पड़ती है, इसे संश्लेषण करना कहा जाता है।

जब इतना कार्य हो जाता है और रचना का सर्वांग निरीक्षण कर लिया जाता है तब उस रचना का महत्त्व, स्थान, प्रभाव आदि के देखने को व्यापक रूप से संश्लेषण करने की फिर आवश्यकता पड़ती है। यही व्यापक संश्लेषण निर्णय या मत का आधार बनता है, इसी से लेखक के उद्देश्य

तथा उसके साफल्य का ज्ञान होता है। जिस विषय या अंग की वह रचना होती है उस विषय के शास्त्रीय सिद्धान्तों के द्वारा इसी संश्लिष्ट रचना-वस्तु को तौला जाता तथा तद्विषयक आदर्श रचना के साथ इसकी तुलना करते हुए अपनी आलोचन-कसौटी पर कसा जाता है और तब निर्णय करके, अपना मत प्रकट किया जाता है। इस क्रिया को रचना-संतोलन कहते हैं। इसी के बाद उस विषय की रचना-परम्परा के साथ आलोच्य रचना का मिलान भी किया जाता तथा यह देखा जाता है कि रचना उस परम्परा के साथ कहाँ तक सानुकूल्य या साम्य रखती और कहाँ तक उस प्रणाली या परिपाटी की मर्यादा या सीमा का उचित अतिक्रमण-सा कर अपनी और लेखक की स्वतन्त्रता, विशेषता और मौलिकता सूचित करती है। कितनी दूर तक रचना चिर-प्रचलित समय-सम्मानित (Time-honoured) रूढ़ियों (Conventionalities) तथा तद्विषयक रचना-पद्धति की विशेषताओं (Technicalities) का पालन करती हुई सहयोग-सम्बन्ध के साथ चलती है और कहाँ किस प्रकार और क्यों उनका उल्लङ्घन करती है, और इसका क्या प्रभाव या परिणाम होता है।

अब रचना का निर्णय आता है, यह समस्त निरीक्षण का फल या परिणाम होता है और तर्क-पुष्ट तथा अनुमति-सूचक रहता है। इसी में उपर्युक्त समस्त अंगों का सारांश (Sum and substance) रक्खा जाता है और उसी सारांश

के आधार पर निर्णय (Judgment) निर्धारित किया जाता है। इसी निर्णय में रचना और रचयिता का स्थान और मूल्य भी निश्चित किया जाता है। रचना किस कोटि की है और उसका लेखक किस श्रेणी का है इस पर भी यथेष्ट प्रकाश डाला जाता है। इसी दशा में यदि आलोचक चाहे तो उस रचना और रचयिता की तुलना उसी प्रकार की किसी अन्य (पूर्ववर्ती या समकालीन) रचना और उसके रचयिता से कर सकता है। यही तुलनात्मक निर्णय होगा। जब समस्त अंगों के साथ ऐसी तुलना की जाती है तब आलोचना तुलनात्मक हो जाती है। इस तुलना के आधार पर आलोच्य रचना की न्यूनता और विशेषता प्रकट की जा सकती है।

स्थूल रूप से यों कह सकते हैं आलोचन-कार्य मुख्यतया निरीक्षण, विश्लेषण (विवेचन), संश्लेषण (व्यापक) और निर्णय-निर्धारण में विभक्त किया जा सकता है। इन्हों के साथ यदि आवश्यकता हो तो संतोलन और तुलना को भी ले सकते हैं। अब यहाँ हम यह भी दिखला देना चाहते हैं कि आलोच्य रचना में किन बातों या वस्तुओं पर दृष्टिपात करना अनिवार्य ठहरता है।

किसी आलोच्य रचना को देखते ही सबसे प्रथम वस्तु, जिसकी ओर स्वभावतः ही चित्त आकर्षित हो जाता है, भाषा ठहरती है। भाषा मानसिक भावों का वह नादात्मक या शब्दात्मक रूपान्तर-मात्र है जो बाहरी आदमियों पर प्रकट होती हुई आन्तरिक विचारों या भावों को व्यक्त करके

सुशोभित कर देती है। ऐसी दशा में कहा जा सकता है कि भाव मुख्य एवं प्रधान होते हुए महत्त्व एवं प्राबल्यपूर्ण होते हैं, वास्तव में भाव या विचार मन (Mind) की संचालन-क्रियायें (Sensations) मात्र हैं, जो भाषा के द्वारा अनुवादित-से होते हुए व्यक्त किये जाते हैं। भावों का स्थान इसी लिए कुछ लोगों के द्वारा प्रथम माना जाता है। किन्तु कुछ विद्वानों का मत इसके ठीक विरुद्ध है। उनका कहना है कि भावों या विचारों की उत्पत्ति भाषा के बिना हो ही नहीं सकती और दैनिक अनुभव भी यही प्रकट करता है कि बिना भाषा की सहायता के भावों या विचारों का उदय भी हमारे मन में नहीं होता। अस्तु इनके मतानुसार भाषा का स्थान भावों से प्रथम या पूर्व और अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसी सम्बन्ध में कुछ अन्य विद्वानों का कहना है कि एक छोटे बच्चे में भी भावों या विचारों का उदय देखा जाता है, यद्यपि वह भाषा से सर्वथा अपरिचित रहता है, किन्तु बड़ी अवस्था में बिना भाषा के सोचना या विचारना एक प्रकार से सर्वथा असंभव ही होता है, ऐसी दशा में यही कहना उपयुक्त जान पड़ता है कि भाषा और भाव में पूर्वापर सम्बन्ध न होकर साहचर्य सम्बन्ध ही मान्य है। भाषा ही भावों का साकार एवं सजीव रूप है।

इन सिद्धान्तों को मानते हुए भी यही कहना पड़ता है कि किसी रचना के निरीक्षण करने में भाषा की ही ओर

प्रथम ध्यान जाता, और उस पर ही दृष्टि पड़ती है। कुछ लोगों ने भाषा को भावों का परिधान या बाह्यावरण माना है, और यह प्रकट किया है कि जिस प्रकार हमारा ध्यान प्रथम किसी आगन्तुक व्यक्ति के वस्त्रों या परिधानों पर ही विशेष रूप से जाता है और हम उसके बहिरंग उपकरणों—रूप-रंगादि—से ही प्रथम आकृष्ट होते हैं, उसी प्रकार रचना में प्रथम हमारी दृष्टि भावों पर—जो आन्तरिक क्रियाओं के रूप में रहते हैं—न पड़ कर उनकी बाह्यावरणरूपी भाषा पर ही पड़ती है, हम उसी के रूप-रंग आदि को देखते हैं, वही हमें आकृष्ट करती है। इसी सिद्धान्त के अनुसार रचना-कला में भाषा-सौंदर्य को प्रथम स्थान दिया गया तथा उसके विविध विधानों—शब्दालंकारों, रीतियों आदि—को महत्त्व दिया गया है। किसी किसी ने तो काव्य-रचना में "रीति"—"विशिष्टपद-रचना रीतिः"—विशिष्ट पद-रचना—को ही आत्मा कहा है—"रीतिरात्मा काव्यस्य"। साथ ही शब्दालंकारों—यमक, अनुप्रास आदि से भाषा का सुसज्जित करना आवश्यक और उपयुक्त माना है।*

* शैली इसी के अन्तर्गत है, क्योंकि शैली भाषा की ही एक संगुफन-व्यवस्था और रचना-रीति है। शैली से न केवल रचना-कला और भाषा-कौशल का ही परिचय प्राप्त होता है वरन् लेखक के हृदय या आत्मा का भी बोध बहुत कुछ होता है, इसी आधार पर कहा गया है—"Style is the man and man is the Style—शैली ही रचयिता और रचयिता ही शैली है"।

भाषा के पश्चात् ही भावों का स्थान आता है, क्योंकि भाषा से पढ़ते या सुनते ही भावों या विचारों का ज्ञान होता है—भाषा है भी तो भावों या विचारों का नादात्मक या शब्दात्मक रूपान्तर-मात्र। वास्तव में भाव या विचार भाषा से पृथक् रह ही नहीं सकते। भाषा में भाव हैं और भावों की सत्ता एवं महत्ता भाषा से है। अतएव किसी आलोच्य-रचना के निरीक्षण में भाव-परिचय ही अपनी विशेष महत्ता और सत्ता रखता है। रचना और लेखक के सम्बन्ध में बहुत कुछ इसी के आधार पर कहा जाता या जा सकता है। रचना के उद्देश्य प्रभाव आदि तथा लेखक के चरित्र (स्वभाव, सिद्धान्त, रुचि-वैचित्र्य आदि का स्पष्ट प्रतिबिम्ब इसी पर पड़ता है। लेखक के देश, काल, समाज आदि की भी बहुत कुछ छाया इसमें दिखलाई पड़ती है। भावनायें और कल्पनायें तो इसी से साकारता एवं सजीवता को प्राप्त होकर दूसरों पर अपना प्रभाव डालने में समर्थ होती हैं। कह सकते हैं कि यदि रचना की देह या आवरण भाषा है तो उसके प्राण विचार या भाव ही हैं, इन्हीं दोनों से रचना को सजीव साकारता प्राप्त होती है।

भाषा और भाव के पश्चात् जिन बातों से हम समाकृष्ट होते या हो सकते हैं उनमें से प्रधान या प्रमुख कला-कौशल है। भाषा को सुखद या मनोरंजक रूप से सुसज्जित करके सौंदर्य प्रदान करने की ओर प्रथम संकेत किया जा चुका है

और इसके कुछ प्रमुख विधानों का भी उल्लेख किया गया है। यहाँ अब यह कहना है कि भाषा के ही समान रचना की आन्तरिक आत्मा को भी सुसज्जित किया जा सकता है। कला के द्वारा न केवल बहिरंग सौंदर्य की ही वृद्धि होती है वरन् अंतरंग सौंदर्य को भी समृद्धि प्राप्त होती है। जिस प्रकार विद्वान् आचार्यों के द्वारा भाषा के बहिरंग सौंदर्य के विधानों की कल्पना की गई है उसी प्रकार भाव-सौंदर्य के भी विधानों की कल्पना की गई है। भाव-सौंदर्य लेखक की प्रतिभा और कल्पना पर ही विशेष रूप से समाधारित रहता है। अस्तु भाषा और भाव के पश्चात् रचना-कौशल की ओर भी आलोचक को दृष्टिपात करना चाहिए।

इस प्रकार अब कहा जा सकता है कि आलोचक को किसी आलोच्य-रचना का निरीक्षण करते हुए विशेषरूप से ध्यान देना चाहिए उसकी भाषा, उसकी भाव-धारा तथा उनके रचना-कला-कौशल की ओर। आलोचना करते समय इन्हीं की यथेष्ट विवेचना करते हुए इनकी अच्छाई और बुराई पर भी प्रकाश डालते हुए अनुमति देना चाहिए। रचना के ये ही तीन प्रमुख अंतरंग अंग या विभाग हैं और इन्हीं की समष्टि से रचना की उत्पत्ति होती अथवा इन्हीं की समष्टि को रचना कहा जाता है।

इन तीनों आन्तरिक अंगों के पश्चात् ध्यान देना चाहिए रचना की उन बहिरंग बातों पर जो रचना से स्वभावतः ही

प्रकट या सूचित होती हैं। इनमें मुख्य हैं वे बातें जो रचयिता या लेखक तथा जनता से सम्बन्ध रखती हैं। किसी रचना को देखकर उसके लेखक के भी सम्बन्ध में बहुत-सी बातों का अनुमान किया जा सकता है। रचना की भाषा तथा विचार-धारा पर सूक्ष्मता के साथ मनोविज्ञान की सहायता से ध्यान देने पर लेखक की आत्मा, प्रवृत्ति तथा भावना की सूचना मिल सकती है। उसके चरित्र और स्वभावादि का भी यथेष्ट संकेत प्राप्त हो सकता है, क्योंकि यदि रचना लेखक की मनःप्रेरणा, आत्मोद्दीप्ति या हृदयोत्तेजना का फल है और उसने प्रबल इच्छा-शक्ति की आज्ञा के आधार पर लेखनी उठाई है अथवा रचना की आवश्यकता के प्राबल्य ने उसे बाध्य किया है तो यह निश्चय एवं अनिवार्य रूप से अवश्यंभावी है कि उस रचना में उसकी अन्तरात्मा, मनोवृत्ति आदि का यथेष्ट प्रतिबिम्ब पड़ा हुआ प्राप्त हो।

आत्म-प्रेरणा से की गई रचना में जो एक विशेष प्रकार की तन्मयता एवं तल्लीनता रहती है उसी के प्रभाव से लेखक के अन्तर्जगत् की छाया रचना में स्पष्टरूप से पड़ती रहती है। ऐसा उन सच्चे और कुशल लेखकों की ही रचना के सम्बन्ध में कहा जा सकता है जो सर्वथा शुद्ध, सुन्दर और सत्य भाव से रचना-कार्य में प्रवृत्त होते हैं, जिनके आचरण और हृदय निर्मल, पवित्र और निष्कपट होते हैं।

यह भी ठीक और सम्भव है कि किसी रचना में, जो

साधारण और केवल किसी विशेष उद्देश्य (धन, यश, अनुकरण आदि) से की गई है और जो केवल रचना के ही लिए है, लेखक का प्रतिबिम्ब न पड़े, किन्तु अन्तःप्रेरणा-कृत रचना में यह स्वाभाविक ही-सा है कि लेखक की आत्मा उसमें बोलती रहे। यह अवश्य है कि एक उच्च कोटि का सुयोग्य, अभ्यस्त एवं कुशल लेखक इस प्रकार रचना कर सकता है कि वह सर्वथा स्वाभाविक, वास्तविक और सजीव होती हुई भी लेखक के जीवन-प्रतिबिम्ब से पूर्णतया परे ही रहे, उसमें उसकी छाया भी न झलक सके। किन्तु साधारणतया यह बात नहीं होती। कुशल और प्रौढ़ लेखकों की प्रतिभा ऐसी परिपक्व हो जाती है कि वह किसी भी विषय की रचना सफलतापूर्वक कर सकती है, उनकी कुशल कल्पना प्रत्येक विषय पर सजीवता और स्वाभाविकता के साथ सुन्दर और श्रेष्ठ रचना कर सकती है। ऐसे लेखक—चाहे उनकी व्यक्तिगत विचार-धारा, प्रवृत्ति या इच्छा (रुचि) कैसे ही क्यों न हो—चाहे उनका जीवन, स्वभाव, हृदय या मन आदि रचना-वस्तु से कैसा ही साम्य या वैलक्षण्य क्यों न रखते हों, उनके सिद्धान्त एवं चरित्र कैसे ही क्यों न हों—जितनी देर तक किसी विशेष विषय पर लिखते हैं उतनी देर तक अपने चित्त को उसी विषय में पूर्ण ध्यान एवं मनोयोग के साथ लीन, या विलीन-सा कर रखते हैं, जिससे उनकी रचना में अनुभूतिव्यंजना, सजीवता, सबलता और स्वाभाविक सत्यता

स्पष्ट रूप से आ जाती है, होता यह उसी तल्लीनता का ही फल या प्रभाव है, (जो अभ्यास-प्रभाव से तात्कालिक एवं अल्पकालीन होती हुई भी मनोयोग और ध्यानैकाग्रता के प्रभाव से प्रबल रहती है)।

यह भी एक स्पष्ट और सिद्ध बात है कि मनुष्य पर समाज और समय (देश-काल और परिस्थिति) का पूरा प्रभाव पड़ता है, इन्हीं से लेखक भी प्रभावित रहता है। वास्तव में वह जो कुछ भी होता है, केवल समय-समाज और परिस्थितियों के ही प्रभाव से होता है, अस्तु उसकी रचना में समय-समाज आदि का पूरा प्रतिबिम्ब पड़ता है और पड़ना भी चाहिए। अस्तु रचना के निरीक्षण से इन बातों का भी बहुत कुछ परिचय प्राप्त हो सकता है।

किन्तु यह भी देखा जाता है और बहुत अंशों में स्वयंसिद्ध और स्वाभाविक-सा ही है कि समय-समाज से प्रभावित होकर भी प्रत्येक व्यक्ति अपने कुछ विशेष सिद्धान्त, विचार एवं उद्देश्यादर्श रखता है। महान् पुरुष तो इसके सर्वथा अपवाद ही होते हैं, वे अपने समय एवं समाज से प्रभावित होने की अपेक्षा अपने व्यक्तित्व से इन्हीं को अधिकतर प्रभावित करते हैं। वे अपना कुछ विशेष लक्ष्य, आदर्श एवं संदेश रखते हुए कुछ प्रधान एवं अपूर्व सिद्धान्त रखते हैं और उन्हीं का प्रचार करते हुए देश-काल को प्रभावित करते हैं। वे प्रथम बनते तो हैं समय-

समाज के प्रभाव से, किन्तु फिर अपने ही अनुसार इन्हें बनाने लगते हैं। इसी प्रकार महान् प्रतिभा-प्रभावपूर्ण लेखकों का भी हाल है, उनमें भी दैवी या स्वर्गीय संदेश का प्रभाव रहता है, उनमें अलौकिकप्रतिभा-प्रभा रहती तथा दिव्य शक्ति होती है। वे देश-काल को एक विशेष दैवी सन्देश देने या कोई युगान्तरकारी महान् उद्देश्य की पूर्ति करने आते हैं। ऐसे ही महापुरुषों की रचनायें देश और समाज के जीवन में अपूर्व परिवर्तन उपस्थित कर देती हैं और अपने ही मार्ग पर उसकी विचार-धारा तथा कार्य-प्रणाली को प्रवाहित करती हैं। देश और समाज (साहित्य, सभ्यता, धर्म, चरित्र, भाषा और संस्कृति आदि) उनके व्यक्तित्व तथा उनकी विचार-धारा से प्रभावित होकर उनका ही अनुयायी बन जाता है। उदाहरण के लिए यहाँ स्वामी रामानंद, वल्लभाचार्य, चैतन्य, सूर, तुलसी, कबीर एवं दयानन्दजी के नाम उल्लेखनीय हैं।

ऐसे प्रशस्त लेखक अपने विचारों एवं भावों से तो धर्म, सभ्यता और साहित्य को प्रभावित एवं परिवर्तित करते हैं और अपनी भाषा-शैली से भाषा और शैली में रूपान्तर उपस्थित कर देते हैं। इनके द्वारा भाषा और शैली में नवीन विशेषतायें उत्पन्न की जाती हैं, नये-न्यारे प्रयोगों (मुहावरों) शब्दों, पदों (Phrases), नई लोकोक्तियों तथा नूतन चातुर्य-चमत्कारों का उदय होता है। अस्तु एक सुयोग्य आलोचक

को आलोच्य वस्तु का निरीक्षण करते हुए इन सब बातों की ओर भी सध्यान दृष्टिपात करते जाना चाहिए।

लेखक के सम्बन्ध में उसकी रचना के द्वारा खोज करते हुए उस रचना के उद्देश्य, उत्पादक साधन और मौलिकता आदि बातों का भी पता लगाया जा सकता है। देखा जाता है कि अन्य कार्य्यों की भाँति साधारणतया रचना-कार्य भी प्रायः दो मुख्य उद्देश्य या लक्ष्य के आधार पर किया जाता है:—१—स्वार्थ के लिए—अर्थात् उस रचना से रचयिता कुछ अपना लाभ प्राप्त करना चाहता है—चाहे वह अर्थ (धन) के रूप में हो या यश के रूप में अथवा, केवल रचना-कला की वृद्धि के लिए। कभी कभी आत्मानंद के लिए भी रचना की जाती है*। धर्म और मोक्ष को भी रचना का उद्देश्य कहा गया तथा जा सकता है। धर्म को तो हम उद्देश्य के रूप में मानने को सर्वथा तैयार हैं किन्तु मोक्ष को नहीं, क्योंकि यह बहुत बड़ा जीवनोद्देश्य है और केवल रचना करने से ही नहीं प्राप्त हो सकता। धार्मिक भाव से प्रेरित होकर धर्म-प्रचारार्थ साहित्य की रचना अवश्यमेव हुई है और होती भी है—हमारा भक्ति-काव्य इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

---

* "स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा-
भाषानिबन्धमतिमंजुलमातनोति।"
"पढ़िकै सुकवि रीझि हैं तौ कविताई न तु,
राधावर हरि के भजन कौ बहानो है।"

कभी कभी लेखक अपनी भाषा और शैली के प्रचार को भी उद्देश्य रूप में रखकर रचना-कार्य करता है, और इस प्रकार रचना-कला की उन्नति को लक्ष्य करके अपनी विशिष्ट शैली की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट करता है, जिसका अनुकरण फिर और लोग करने लगते हैं।

किसी विषय की पुस्तकों में कुछ ऊनता देखकर उनकी कमी को पूरा करने के लिए भी कभी कभी रचना की जाती है, इसे हम साहित्य-सेवारूपी उद्देश्य कह सकते हैं।

२—परार्थ के लिए—अर्थात् जब लेखक अपने व्यक्तिगत लाभ को सम्मुख नहीं रखता, वरन् जनता के हित के भाव को ही प्रधान रूप में लेता है। वह यह समझकर रचना करता है कि उससे उसके देश या समाज को एक विशेष प्रकार का लाभ होगा। यों तो किसी भी उद्देश्य से रचना की जावे जनता को उससे कुछ न कुछ लाभ अवश्यमेव होता है। हाँ निरुद्देश्य रचना ऐसी हो सकती है और वह भी ऐसे लेखक की जिसे अपने कर्तव्य-कर्म एवं उत्तरदायित्व का ध्यान नहीं और जिसमें वस्तुतः रचना करने की यथेष्ट क्षमता या योग्यता ही नहीं है—जिससे जनता को किसी भी प्रकार का लाभ न हो, विपरीत इसके उससे उसे कुछ हानि हो।

बहुधा अपने किसी विशेष सिद्धान्त, अनुभव, विचार या संदेशादि से जनता को परिचित कराने के लिए भी रचनायें

की जाती हैं, किन्तु इस उद्देश्य से प्राय: महापुरुष ही रचनायें करते हैं, साधारण लेखक नहीं। साधारणतया तो स्वार्थ-सम्बन्धी उक्त प्रमुख उद्देश्यों में से ही किसी एक या दो के आधार पर रचनायें की जाया करती हैं।

आलोचक को रचना का सांगोपांग निरीक्षण उसके उद्देश्य से अवश्यमेव परिचित करा देता है, अतएव वह यह देख सकता है कि जिस उद्देश्य से रचना की गई है, वह उद्देश्य उस रचना से पूरा होता है अथवा नहीं, या कितने अंश में कहाँ कैसा पूरा होता है और कितने में कहाँ नहीं।

इसके उपरान्त आलोचक पर आलोच्य-वस्तु का निरीक्षण यह भी प्रगट कर देता है कि उस वस्तु के उत्पादक-साधन क्या हैं और किन किन साधनों (Sources) से रचना में कहाँ कैसी सहायता ली गई है, वह किन किन प्राचीन या अर्वाचीन ग्रंथों पर कहाँ कितनी आधारित है। रचना का कितना अंश सर्वथा मौलिक और कितना अन्य ग्रंथादि पर समाधारित है, कौन कौन से विचार या भाव नवीन और कौन कौन से अपहारित हैं। मौलिकता ही किसी रचना और उसके कर्ता की योग्यता आदि के परखने की सच्ची कसौटी है। मौलिकता भावों या विचारों तथा उनके प्रकट करने की शैली या रीति में देखी जा सकती है। यदि दोनों प्रकार की मौलिकता किसी रचना में पाई जाती है तो वह रचना सर्वथा स्तुत्य और साहित्य-मौलि मणि कही जाती है,

किन्तु यह अत्यंत दुर्लभ या दुस्साध्य ही-सा है, यदि सर्वथा अलभ्य और असाध्य नहीं। यह स्पष्ट ही है कि हम अपने बाल्यकाल से ही दूसरे के अनुभवों, विचारों या भावों के द्वारा अपना ज्ञान-कोष बढ़ाते रहते हैं और दूसरों का ही अनुकरण करते रहते हैं अतः यह हमारे लिए सर्वथा स्वाभाविक ही-सा हो जाता है कि हम दूसरे के विचारों या भावों से (उनके ही ऊपर या उनके ही आधार पर, उनसे सहायता लेकर) अपनी एक स्वतंत्र रचना तैयार करें। यह एक प्रकार से अनिवार्य ही है। अस्तु यदि भाव या विचार अन्य ग्रथों से लिये जाकर कुछ विवर्धित (परिष्कृत या परिमार्जित) रूप में नवीनता के साथ नये रंग-ढंग की भाषा और शैली के द्वारा व्यक्त किये गये हैं तो भी रचना को मौलिक कहा जा सकता है और कहना ही चाहिए। ऐसी मौलिकता भी सर्वथा सराहनीय और प्रोत्साहनीय है*।

यह अवश्यमेव निंदनीय है कि किसी के विचार या भाव ज्यों के त्यों उसकी ही भाषा एवं शैली में रख लिये जायें और

* ऐसी दशा में आलोचक को यह दिखला देना चाहिए कि अमुक भाव या विचार अमुक कवि या लेखक की अमुक पुस्तक से लिये गये हैं और उनमें उसकी आलोच्य रचना के रचयिता ने अमुक रूप में विशेषता उत्पन्न कर दी है। अर्थात् अपहृत भाव एवं उनके प्रकाशन-ढंग में जो जो विशेषतायें उसे प्राप्त होती हैं उनको उसे स्पष्टतया प्रकट कर देना चाहिए।

उन्हें अपनी संपत्ति कहा जाय, यही भावापहरण और लेखक का चौर-कर्म कहा जाता है। भावापहरण आदि का अच्छा विवेचन कवि-कर्म एवं कवि-शिक्षा का वर्णन करते हुए श्री० क्षेमेन्द्र कवि ने अपने ग्रंथ में किया है इसी के आधार पर इस विषय पर श्री० डा० गंगानाथ झा ने भी अपनी "कवि-रहस्य" नामक पुस्तक में यथेष्ट प्रकाश डाला है।

इन सब बातों के साथ ही एक तीव्र बुद्धिवाला सूक्ष्मदर्शी सत्समालोचक अपनी आलोच्य-वस्तु को सांगोपांग देखकर रचयिता या लेखक के ज्ञान, अनुभव और चरित्र आदि का भी प्रतिबिम्ब उसमें देख सकता या अपनी कल्पना की सहायता से इनका बहुत कुछ ऐसा अनुमान कर सकता है जो सर्वथा सत्य और उपयुक्त हो, क्योंकि रचना में रचयिता की इन सब बातों का प्रतिबिम्ब थोड़ा-बहुत किसी न किसी रूप में अवश्यमेव पड़ता है। आलोचक के ऐसे अनुमान जितने ही अधिक सच्चे और सही उतरते हैं उतना ही उच्च कोटि का वह सफल और सिद्धहस्त आलोचक माना जाता है। जितनी ही अधिक गहराई और सूक्ष्मता की ओर उसके ऐसे अनुमान चलते हुए रचयिता के अन्तर में प्रविष्ट होकर वहाँ का परिचय देते हैं और उसकी सभी प्रकार की मनोवृत्तियों, आदि की सूचना देने में समर्थ होते हैं उतनी ही अधिक उस समालोचक की तर्कबुद्धि एवं प्रज्ञा प्रशस्त कही जाती है।

जिस प्रकार आलोचक आलोच्य-वस्तु में उसके लेखक का पूरा प्रतिबिम्ब देख सकता है उसी प्रकार वह उस देश-समाज या जनता का भी प्रतिबिम्ब बहुत कुछ उसमें देख सकता है जिससे रचयिता का अबाध या अनवच्छिन्न सम्बन्ध है या रहा है। यदि रचयिता ने जनता का ध्यान अपनी रचना में नहीं रक्खा और जनता के लिए मानो उसने रचना ही नहीं की तो देश और समाजादि का जो प्रभाव उस पर प्रकटाप्रकट या व्यक्ताव्यक्त (Directly or indirectly) रूप में बाल्यकाल से पड़ा है उसका प्रतिबिम्ब उसमें किसी न किसी रूप में अवश्य ही कुछ न कुछ कहीं न कहीं पड़ा हुआ प्राप्त होगा और यदि रचयिता ने देश-काल का यथेष्ट ध्यान रखकर जनता के लिए रचना की है तो उसकी उस रचना में जनता का पूरा प्रतिबिम्ब स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ेगा, जनता की मनोवृत्ति, उसके चाव-भाव आदि उसमें अवश्यमेव चित्रित से मिल सकेंगे।

अथवा यदि रचना का लक्ष्य पूर्णतया साहित्यिक, सैद्धान्तिक या कला-प्रदर्शन आदि में से है तो भी उस रचना से आलोचक रचयिता के व्यक्तित्व को देखता हुआ देश-काल की प्रचलित पद्धति या परम्परागत परिपाटी आदि की झलक देख सकता है। साथ ही वह रचना के उस प्रभाव का भी अनुमान कर सकता है जिसका देश-समाज पर पड़ना अनिवार्य रूप से आवश्यक है। इसके देखने

में उसे देश-समाज का पूरा अनुभव एवं ज्ञान प्रथम ही प्राप्त करना पड़ेगा, और अपने को इनकी मनोवृत्ति आदि सभी बातों से पूर्णतया परिचित कर लेना पड़ेगा।*

---

* देश-काल के उस प्रभाव का, जो किसी लेखक या कवि पर स्वभावतः ही अनवरत या अविच्छिन्न एवं अनिवार्य सम्पर्क-सम्बन्ध अथवा चिर परिचय या साहचर्य के कारण पड़कर उसके स्वभाव एवं उसकी प्रवृत्ति या मानसिक विचार-धारा का एक अत्याज्य अंग-सा हो जाता है, उपयोग करने में लेखक या कवि को बहुत सावधानतापूर्वक विचार एवं तर्क से काम लेना चाहिए। यदि उसकी रचना का विषय ऐसा है जिसका सम्बन्ध किसी भी रूप में, किसी प्रकार, कहीं भी उसके देश-काल से है और आवश्यक या अनिवार्य रूप में है, तब तो वह देश-काल के प्रभाव का स्पष्ट रूप से स्वतंत्रता के साथ यथेष्ट ढंग से उपयोग कर सकता है, किन्तु यदि उसकी रचना का विषय उसके ऊपर प्रभाव डालनेवाले देश-कालादि से किसी भी प्रकार कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखता वरन् किसी अन्य प्रकार के समाज एवं समय के साथ उन्हीं के आधार पर चलता है तब तो लेखक या कवि को इतिहासादि की सहायता से उस समय एवं समाज का यथोचित ज्ञान प्राप्त करके अपने को उसी से प्रभावित बना लेना तथा तदनुकूल ही उनका चित्रण करना समीचीन है। किसी प्राचीनकाल की कथा लिखते हुए उसे उसी समय एवं समाज के अनुकूल वर्णन करना तथा तदनुकूल ही चरित्र के दृश्यों, रीति एवं रस्मादि का चित्रण करना चाहिए। जहाँ सम्भव हो और किसी भी प्रकार की बाधा न उपस्थित हो सके, वहाँ भले ही वह अपने समय-समाज के प्रभाव का प्रतिबिम्ब उस पर डाल सकता है, अन्यथा नहीं। कृष्ण का चित्रण करते हुए नये समय एवं समाज के अनुसार उन्हें सूटेड-बूटेड दिखलाना उपयुक्त नहीं। यही नियम चित्रकार के लिए भी

अस्तु आलोचना के इन्हीं सब प्रमुख अङ्गों पर सतर्क एवं सप्रमाण प्रकाश डालना सत्समालोचक का प्रधान कर्तव्य कहा जा सकता है, अपनी आलोचना में उसे इन्हीं की एक सुन्दर और सजीव समष्टि रचना समीचीन है।

——

परिपालनीय है। कवि या लेखक को किसी समय-समाज (सभ्यता-संस्कृति, आदि) के काल्पनिक चित्रण या वर्णन में चिर-प्रचलित एवं लोक-प्रसिद्ध परिपाटी का, जिसे कवियों की वर्णन-प्रणाली-परम्परा कहा जाता है, पूरा ध्यान रखना चाहिए। किसी समय-समाज के चित्रण में कवि या लेखक अपने देश-काल से प्रभावित होता हुआ कुछ रूपान्तर या विशेष परिवर्तन करने में स्वतन्त्र है, तथापि इसी प्रकार जिससे कुछ सार्थकता, चमत्कृत-चारु विशेषता उपयुक्त उपादेयता आती हो और जो चित्रित समय-समाज के आदर्शोद्देश्यादि का घातक व्यर्थ अनर्थकारक न हो, वरन् सर्वथा समुचित, मर्यादित (नियम-नियन्त्रित) उपयोगी और शिष्ट संयत हो।

जिस समय एवं समाज की जैसी संस्कृति, सभ्यता एवं परम्परा-पद्धति है, जैसी विचार-धारा एवं नीति-रीति है तथा जैसे उसके आचार-व्यवहार और आदर्श आदि हैं, ठीक उन्हीं के अनुसार उस समय— एवं समाज का चित्रण किया जाना चाहिए तथा उस समय एवं समाज के ही अनुसार उनके मनुष्यादि का, जो उस समय या समाज से सम्बन्ध रखनेवाले कथानक के पात्र हैं, वर्णन करना चाहिए। श्री मैथिली बाबू ने इसका पूर्ण पालन न करके अपनी "पंचवटी" में राम, लक्ष्मण, जानकी में मज़ाक कराते हुए "कुण्डलं नैव जानामि, नैव जानामि कङ्कणम्। नूपुरमेव हि जानामि, नित्यं पादाभिवन्दनात्" जैसे तत्कालीन आदर्श पर कुठाराघात करने का दुस्साहस कर अपनी निरंकुशता तथा उच्छृङ्खलता के प्रकट करने की अनधिकार चेष्टा की है।

आलोचना के रूप

यह वास्तव में अभी बहुत ही कठिन कार्य है कि आलोचना-शैलियों का निश्चित रूप से श्रेणी-विभाग किया जावे और उन श्रेणियों के लक्षण, मुख्य गुण, उनकी शैलियों आदि का सांगोपांग विशद विवेचन शास्त्रीय शैली के आधार पर किया जावे, क्योंकि अद्यावधि समालोचना-कला का शास्त्रीय रूप स्थिर ही नहीं हो सका। समालोचना के रूप, मार्ग, नियम या सिद्धान्त आदि अभी सर्वथा प्रौढ़ और परिपक्व नहीं हो सके, इनमें अभी बहुत कुछ हेर-फेर या परिवर्तन हो रहा है तथा होना भी है। आलोचकगण अभी अन्वेषकों की भाँति आलोचन-कार्य-क्षेत्र में मार्ग ही ढूँढ़ रहे हैं, उन्हें अभी खोज के ही साथ अपना कार्य करना पड़ता है। अस्तु इस समय इस सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा जा सकता है वह केवल अनुमान के रूप में ही कहा जा सकता है, और जो कुछ भी कार्य हुआ है उसी के आधार पर कुछ सिद्धान्त प्रस्ताव के रूप में रक्खे जा सकते हैं। अभी इस कला की उत्तरोत्तर वृद्धि होगी और इसमें पूर्ण विकाश के प्राप्त होने तक बहुत कुछ परिवर्तन भी होगा। यहाँ जो कुछ इस सम्बन्ध में कहा जा रहा है वह केवल व्यापक मूल तत्त्वों के ही रूप में दिया जा रहा है।

अब तक जो कुछ भी आलोचन-कार्य हुआ है उसे देखते हुए हम कह सकते हैं कि आलोचना के भिन्न भिन्न मुख्य रूप देखे जाते हैं :—

१—सबसे प्रथम तो हम उस रूप को लेते हैं जिसका सम्बन्ध शास्त्रीय पद्धति से है और जो रचना के किसी विशेष सिद्धान्त या सिद्धान्तों पर समाधारित रहता है। जिस विषय से कोई आलोच्य रचना सम्बन्ध रखती है उस विषय के शास्त्र या उस कला के नियमों को लेकर उन्हों के अनुसार रचना-कला के सिद्धान्तों को भी ध्यान में रखते हुए एक मापक या आदर्श कल्पित कर लिया जाता है, और उसी से आलोच्य रचना की तुलना की जाती है अथवा उस रचना में देखा जाता है कि वह उस मापक के साथ सर्वथा तुल जाती है अथवा नहीं, यदि वह उस आदर्श माप के सर्वथा अनुकूल ठहरती है तो वह सर्वांगपूर्ण, शुद्ध और प्रशस्त मानी जाती है, यदि नहीं तुलती तो यह देखा जाता है कि उसमें कहाँ कैसी और कितनी कमी रह गई है अथवा वह कहाँ किस रूप में कितनी नई विशेषता रखती है, बस इसी के आधार पर उसका निर्णय किया जाता है।

जैसे यदि किसी नाटक या उपन्यास की आलोचना करनी है तो इस शैली के अनुसार आलोचक को उस आलोच्य नाटक या उपन्यास में यह देखना पड़ेगा कि वह रचना नाट्य-शास्त्र या उपन्यास के निश्चित नियमों या सिद्धान्तों की कसौटी

पर कैसा उतरता है। नाट्यशास्त्र के नियमों और उपन्यास के निश्चित सिद्धान्तों के कहाँ तक किस रूप में वह रचना अनुकूल ठहरती है, तथा उनके अनुसार वह किस कोटि की कही जा सकती है। इन विषयों के नियम जितने ही अधिक उस रचना में चरितार्थ होते हुए पाये जायेंगे उतनी ही सत्कृति और उत्कृष्ट वह मानी जायगी। इसी प्रकार एक काव्य-ग्रंथ की आलोचना भी काव्यशास्त्र के आधार पर की जाती तथा जा सकती है।

इस प्रकार की आलोचना करने में आलोचक को रचना-सम्बन्धी शास्त्र का यथोचित ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है, और ऐसा ही आलोचक वास्तव में ऐसी आलोचना करने का अधिकारी ठहरता है। बिना आलोच्य रचना के विषय और उसके शास्त्रीय ज्ञान के किसी आलोचक का आलोचना के लिए लेखनी उठाना अनधिकार चेष्टा-मात्र है।

इस शैली की आलोचना में आलोचक की योग्यता, उसके पांडित्य और विवेक का यथेष्ट परिचय प्राप्त हो जाता है, और यह उसी समय जब वह उस रचना में तद्विषयक शास्त्रीय नियमों की चरितार्थता देखता या दिखाता है। यह उसकी आलोचना का कलेवर या पूर्वांश ही होता है, उत्तरांश या परिणाम में उसका वह निर्णय रहता है जिसमें वह अपने पूर्वांश का निचोड़ रखकर उस पर सतर्क विचार करता और एक निश्चित रूप से किये हुए निर्णय के साथ अपना मत

प्रकट करता है। यहीं उसके विवेक और तर्क का दर्शन होता है।

ऐसी आलोचना में आलोचक को शास्त्रीय कसौटी पर रचना के कसने से बहुत ही कम बाहर जाना पड़ता है। उसे अपनी ओर से उसके सम्बन्ध में कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं रहती, किन्तु यदि वह चाहे तो उस रचना की उन विशेषताओं पर भी अपनी ओर से न्यूनाधिक आकार में प्रकाश डाल सकता है, जो रचना-विषयक शास्त्र के नियमों से अतिरिक्त और नवीन हैं। अन्यथा उसे केवल आलोच्य रचना की तुलना उस आदर्श रचना के साथ करनी पड़ती है जिसमें तद्विषयक शास्त्र के अनुसार सभी गुण कल्पित कर लिये जाते हैं। इस दृष्टि से ऐसी आलोचना को शास्त्रीय या मापक कह सकते हैं और आलोचना-कला को भी एक सैद्धान्तिक या मापक शास्त्र (Theoretical & Normative Science) कह सकते हैं।

किसी रचना के गुण-दोष दिखलाते हुए उसकी आलोचना करना इसी का एक विशेष और प्रमुख रूप है, क्योंकि गुण-दोषों का विधान एवं विवेचन शास्त्र में निश्चित रूप से कर दिया गया है और उनके सम्बन्ध में नियम भी स्थिर कर दिये गये हैं। यह सब प्रकार आलोचक की ही स्वतंत्र इच्छा पर निर्भर है कि वह किसी रचना में केवल गुणों को ही देखे और दिखावे और किसी में दोषों पर ही प्रकाश डाले। वास्तव में उसे दोनों

ही पर यथेष्ट रूप से प्रकाश डाल कर अपना मत स्थिर करना चाहिए। यहाँ भी वह सर्वथा स्वतंत्र है कि अपना निर्णय दे या न दे और पाठकों पर ही उसे छोड़ दे।

जहाँ आलोचक अपनी आलोच्य रचना का विश्लेषण करते हुए उसके गुणों और दोषों को छाँट कर पृथक् रख देता है और अपना निर्णय अंत में सूक्ष्म रूप से देता या पाठकों के लिए छोड़ देता है वहाँ हम आलोचना को विश्लेषणात्मक (Analytical) कह सकते हैं। इस प्रकार की आलोचना-शैली अब तक न्यूनाधिक रूप में चली जा रही है, हाँ अब इसका इतना प्रचार-प्राधान्य नहीं जितना प्राचीन समय में था। "हिन्दीनवरत्न" और मतिरामग्रंथावली ऐसी आलोचना के उल्लेखनीय उदाहरण हैं*।

---

* गुण और दोष मुख्यतया किसी रचना में दो प्रकार से देखे जा सकते हैं—

१—रचना-वस्तु या विषय में—अर्थात् जिस विषय की वह रचना है उसके सम्बन्ध में जो विचार या भाव (सिद्धान्तादि) दिये गये हैं वे कहाँ तक, कितने ठीक और ग़लत हैं, उनमें कहाँ क्या दोष या गुण हैं तथा वे कहाँ तक पुष्टापुष्ट हैं।

२—प्रकाशन-रीति में—इसके अन्दर भाषा, शैली एवं रचना-कला आती है। इन सबके दोषों और गुणों पर विचार किया जा सकता है। इन दोनों ही रूपों में रचयिता के ज्ञानानुभव एवं कौशल देखे जा सकते हैं।

यह स्पष्ट ही-सा है कि इस शैली की आलोचना भी मूलतः आलोच्य-रचना से सम्बन्ध रखनेवाले शास्त्र पर ही समाधारित रहती है। शास्त्र ही रचना के गुणों एवं दोषों

दोनों में विशेषतायें एवं न्यूनतायें देखी जा सकतीं तथा दोनों में रचयिता की मौलिकता परखी जा सकती है, और इसके आधार पर निश्चित मत या निर्णय प्रकट किया जा सकता है।

इसी के साथ ही यह भी देखा जा सकता है कि लेखक या कवि ने भाषा, शैली, रचना-कला, रचना-वस्तु (विचार-धारा, विषय) आदि में या इनमें से किस किसमें कितनी नई विशेषतायें उपस्थित कर दी हैं और इस प्रकार उसने कहाँ तक अपने प्रगाढ़ पांडित्य, अपनी योग्यता एवं कुशलता आदि का परिचय दिया है। आजकल इस शैली की आलोचना का भी प्रचार-प्रस्तार बढ़ता जाता है। किस लेखक या कवि ने कितने नये शब्द, वाक्य, वाक्यांशादि कल्पित किये और प्रयुक्त करते हुए उनके प्रचलित करने का प्रयत्न किया है और इसमें वह कितना सफल हुआ है अथवा कितने शब्दों, वाक्यों, वाक्यांशों लोकोक्तियों, और प्रयोगों (idioms) आदि को नवीन रूप या ढंग से प्रयुक्त कर नवीन भावों या अर्थों से सम्पन्न करने का प्रयास किया है और कितनी सफलता के साथ। ऐसा करने का क्या प्रभाव भाषा, साहित्य और समाज पर पड़ा है कितनी दूर तक किस प्रकार उसका ऐसा करना सर्वमान्य और व्यापक हो सका है और कितने लोग उसका समर्थन करते हुए अनुकरण कर रहे हैं। ऐसी ही अन्य आवश्यक बातों पर भी आजकल इस शैली की आलोचना में विचार किया और पूरा प्रकाश डाला जाता है और इसी के आधार पर रचना और रचयिता के महत्त्व, स्थान और मूल्य का निर्णय किया जाता है।

का यथेष्ट परिचय देते हैं। इस दृष्टि से इस आलोचना को भी हम शास्त्रीय आलोचना कहते हुए प्रथम प्रकार की आलोचना का एक रूप या प्रकार ही मान सकते हैं। साथ

यह भी देखा जाता है कि उस लेखक या कवि के द्वारा रचना-वस्तु या विषय में क्या नया वृद्धि-विकास किया गया तथा उसका ज्ञान-क्षेत्र कितना उसके विशेष ज्ञानानुभव के द्वारा विस्तृत किया जाकर वैज्ञानिक रूप से परिष्कृत और परिमार्जित या परिवर्धित किया गया है, साथ ही उसके द्वारा भाषा (तत्प्रयोग, तद्व्याकरण-विधान और तत्पदावली) एवं शैली में कितनी, कैसी और किस रूप में नई बातें या विशेषतायें सफलता और उपयुक्तोपादेयता के साथ उपस्थित की गई हैं। कहाँ तक सफलतापूर्वक उसने पूर्वनिश्चित नियमों, बातों या सिद्धान्तों का यथोचित परिपालन किया है और उनमें कहाँ किस प्रकार कैसी नई विशेषतायें उपस्थित की हैं और वे कहाँ तक सही, उपयुक्त और उपयोगी हैं, उनका कैसा प्रभाव पड़ा है। इसी प्रकार की अन्य बातों का भी विवेचन करते हुए उसकी रचना का निर्णय किया जाता है। इस कसौटी पर जो लेखक या कवि अपनी रचना के द्वारा जैसा ही खरा उतरता है वैसा ही उसे महत्त्वपूर्ण उच्च स्थान दिया जाता है।

प्राचीन काल में भी इस शैली की आलोचना का प्रचलित होना कतिपय चिरप्रचलित उक्तियों से पुष्ट होता है। "नवसर्गगते माघे नवशब्दो न लभ्यते" अर्थात् माघ-काव्य के नौ सर्गों का पूरा अध्ययन कर चुकने पर काव्य-क्षेत्र में फिर नये शब्द नहीं मिलते—जो मिलते हैं वे माघ में पढ़े ही जा चुके हैं।

इसी प्रकार आलोचना में यह भी दिखलाया जा सकता है कि लेखक रचना-वस्तु (विचार या भावावली), भाषा, शैली, रचना-कला

ही इसे एक स्वतंत्र रूप में भी इस विचार से रख सकते हैं, कि आलोचक अपनी ओर से भी उन विशेषताओं पर प्रकाश डाल सकता है, जो सौंदर्यानन्दकारक है—चाहे वे शास्त्रानुकूल गुण हों या न हों, इसी प्रकार वह रचना की उन त्रुटियों या बुराइयों की ओर भी यथेष्ट संकेत कर सकता है जो रचना को किसी न किसी प्रकार न्यूनाधिक रूप में दूषित और उपेक्षणीय-सा बनाती हैं। चाहे वे शास्त्रानुमोदित दोषों में परिगणित हों या न हों। ऐसा करना मानों आलोचक का मौलिक रूप से काव्य का विश्लेषण करना है।

दोष-गुण दिखलाते हुए आलोचक उनके उन प्रभावों का भी उल्लेख कर सकता है—और उसे ऐसा करना भी चाहिए—

आदि में से किसमें क्या और कैसी विशेषता रखता है, कौन कौन से अंग इनके कितने पुष्ट, सशक्त और प्रभावपूर्ण होते हुए मौलिक और रुचिर-रोचक हैं, किस बात में वह कितना और किस प्रकार बढ़ा हुआ है। "नैषधे पदलालित्यं किराते त्वर्थगौरवम्। उपमा कालिदासस्य माघे सन्ति त्रयो गुणाः" ।—अथवा "दंडिनः पदलालित्यं भारवेरर्थगौरवम्। उपमा कालिदासस्य माघे सन्ति त्रयो गुणाः"। इसी शैली की आलोचना को सूचित करते हैं। इसी प्रकार—"तुलसी गंग दुवै भये, सुकविन के सरदार। इनकी कविता में मिलै भाषा विविध प्रकार ॥" अथवा—व्रजभाषा बरनी कविन, निज निज बुद्धि-विलास। सबकी भूषन सतसई, करी बिहारीदास"। आदि से भी इस शैली की आलोचना का प्रचार पूर्वकाल में होना ज्ञात होता है। इनमें कवियों की विशेषताओं का ही परिचय दिया गया है।

जो उस पर पड़े हैं और जिनका पड़ना साधारण पाठकों पर भी सर्वथा स्वाभाविक एवं सम्भव है। साथ ही वे प्रभाव भी जो—अच्छाई या बुराई के रूप में—उन गुणों और दोषों के कारण उस रचना या रचना-कला पर पड़ रहे हैं, और जो अपना प्रतिबिम्ब रचयिता पर भी किसी न किसी रूप से डालते हैं, आलोचक के द्वारा दिखलाये जा सकते हैं। ऐसा करने से आलोचना गंभीर और मार्मिक होती हुई मनोवैज्ञानिक-सी (Psychological) हो जायगी। इसी प्रकार वह रचना के उस प्रभाव का भी बहुत कुछ पक्का अनुमान कर सकता है जो उस रचना के कारण, यदि वह अपनी विशेषताओं के कारण समाकर्षक होकर व्यापक हो सकती है—देश एवं समाज पर वर्तमान एवं अनागत समय में पड़ सकता है। इस प्रकार रचना के प्रभावों पर विविध रूप से दृष्टि-पात करते हुए वह उनके आधार पर अपना मत या विचार निर्णय के रूप में स्थिर कर सकता है, और ऐसा करना उसके लिए अत्यंत आवश्यक भी है।

आलोचना का यह रूप अपना एक विशेष महत्त्व रखता है। वास्तव में कोई भी रचना हो, वह किसी भी उद्देश्य से क्यों न की गई हो, जनता (देश और समाज) की सम्पत्ति-सी हो जाती है और उसका जनता से (वर्तमान और भावी) घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है जिसके कारण उसका प्रभाव किसी न किसी प्रकार, न्यूनाधिक रूप में कभी न कभी तथा देश में कहीं न कहीं अवश्यमेव पड़ता है। इसी लिए

प्रत्येक लेखक या कवि अपनी रचना के लिए सब प्रकार उत्तरदायी माना जाता है और फलतः उसे अपनी रचना के लिए यशायश आदि के रूप में पुरस्कार और दंड भी प्राप्त होता है। यदि रचना सत्प्रभावोत्पादिनी है तो वह प्रशस्त होकर व्यापक हो जाती है और चिरकाल तक जीवित रहकर रचयिता को भी जीवित रखती है अन्यथा दुष्प्रभावोत्पादिनी होकर वह विगर्हित और त्याज्य हो जाती तथा नष्ट कर दी जाती है। आलोचक के लिए उसके प्रभावों का सतर्क अनुमान करना इसी लिए आवश्यक है कि वह यदि सत्प्रभाव नहीं डाल सकती तो इसके पूर्व कि वह अपने कल्मष से देश और समाज को कलुषित करती हुई व्यापक होकर समस्त वायुमंडल को दूषित कर सके, सर्वथा नष्ट ही कर दी जाये, और जनता तक पहुँच ही न सके। विपरीत इसके यदि वह सत्प्रभावपोषिणी और सुफलप्रदा है तो आलोचना के द्वारा वह व्यापक की जा सके और उसकी ओर देश-समाज का ध्यान समाकृष्ट किया जा सके।

अब इससे यह स्पष्ट ही है कि आलोचक का भी इस कार्य में बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है और इस प्रकार की आलोचना करने में उसे बहुत सतर्क और निष्पक्ष रहते हुए स्पष्टवादी, न्यायसंगत और सत्य-प्रेमी होना चाहिए। उसे बहुत सोच विचार कर इस प्रकार की आलोचना करना चाहिए। यह सर्वथा अनिष्टकारी और अनर्थकारी है कि वह

किसी वस्तुत: बुरी रचना की सुन्दर और अच्छी रचना की बुरी आलोचना कर दे, क्योंकि इसके परिणाम भयावह और हानिकारक हैं। यह कदापि उचित नहीं कि किसी अच्छे लेखक या कवि को तो अयशान्धकूप में केवल रागद्वेषादि के कारण बलात् आलोचनान्तर्गत वाक्प्रहार से डाल दिया जाये और किसी निन्द्य रचयिता को सुयशाभिराम सुन्दर सुफलप्रद आराम के किसी सुखद विरामस्थान में विश्राम करने के लिए कमनीयासन दे दिया जाये। यह वास्तव में सर्वथा अन्याय और एक प्रकार से सत्य का गला घोटना ही है। यद्यपि यह सही है कि केवल किसी आलोचक की आलोचना ही किसी रचना एवं रचयिता को यशायश नहीं दे सकती और न उन्हें स्थायी और व्यापक ही बना सकती है, जनता केवल उस आलोचक की आलोचना के ही आधार पर रचना एवं रचयिता के सम्बन्ध में अपनी धारणा सुदृढ़ न कर लेगी और न कर ही लेती है वरन् स्वयमेव उसे सोचती-समझती है। तथापि आलोचना का प्रभाव रचना, रचयिता और जनता पर कुछ न कुछ, किसी न किसी रूप में कभी न कभी अवश्यमेव पड़ता है।

विशेषतया ऐसे लोगों पर तो आलोचना का प्रभाव अवश्यमेव चिरस्थायी, दृढ़ और गहरा पड़ता है जो किसी रचना को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने में सर्वथा अक्षम या असमर्थ होते हैं और इसी लिए किसी आलोचक की आलोचना के ही सदा मुखापेक्षी रहते हैं। उन लोगों पर आलोचक

और उसकी आलोचना का प्रभाव नहीं पड़ता—अथवा यदि पड़ता भी है तो बहुत ही कम और वह भी उचित तथा यथेष्ट रूप से जैसा चाहिए वैसा ही—अथवा वहीं तक जहाँ तक वह आलोचना सतर्क, न्यायसंगत और यथोचित होती हुई सत्य हैं—जो बुद्धिमान्, भावुक तथा पंडित हैं और जिनमें रचना को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने की यथोचित योग्यता होती है। ऐसे ही लोगों की दृष्टि में आलोचक अपनी भली या बुरी आलोचना के कारण प्रशस्त और निन्द्य हो जाता है और उसका तथा उसकी आलोचना का मूल्य बढ़ या घट जाता है।

ऐसे ही योग्य महानुभावों के द्वारा किसी आलोचक की आलोचना का खंडन—यदि वह असंगत और अनुचित है—और मंडन—यदि वह उचित और उपादेय है—भी किया जाता है और आलोचना की प्रत्यालोचना हो जाती है।

आलोचक इस बात के लिए भी सर्वथा स्वतन्त्र है कि वह किसी रचना के अवश्यम्भावी प्रभावों के ही आधार पर उसकी आलोचना करे। इस प्रकार की आलोचना को प्रभावात्मक या अनुभूतिव्यंजक (Impressional) कह सकते हैं। इसके दो उक्त रूप हो सकते हैं—(१) वैयक्तिक (Individualistic) जिसमें रचना के उन प्रभावों पर प्रकाश डाला जाता है जो आलोचक पर ही पड़े हैं—(२) सामाजिक (Social) जिसमें रचना के वे प्रभाव दिखलाये

जा सकते हैं जिनका पड़ना समाज पर स्वाभाविक और सम्भाव्य है।*

---

* काव्य की सच्ची परख, एक नये दल का जिसे प्रभाववादी संप्रदाय (Impressionist school) कहते हैं, कहना है, उस काव्यानुभव (Poetic experience) के द्वारा होती है जिसमें ऐसी विशिष्ट आनन्दप्रद रमणीयता होती है कि उसमें कवि या रचयिता का व्यक्तित्व तो लय हो ही जाता है, पाठकों के व्यक्तित्व का भी लय उसी प्रकार हो जाता है। लोकोत्तर आनन्दकारी काव्य-रस से इसी रस का तात्पर्य है। किसी रचना के पढ़ने से जो आनन्दमय प्रभाव हमारे हृदय पर पड़ता है वही उस रचना की उत्तमतानुत्तमता का मापक है, इसी प्रभाव का स्पष्टीकरण वास्तव में आलोचना है।

इस प्रभाव (Impression) को मुख्यतया दो रूपों में लिया जा सकता है—१—वह प्रभाव जो रचयिता के ऊपर आलोच्य वस्तु के कारण पड़ा था और जिससे प्रेरित होकर उसने वह रचना की, तथा जिससे उसने दूसरों को भी प्रभावित करने का प्रयास किया। २—वह प्रभाव जो रचना को पढ़कर पाठक के चित्त पर पड़ा और जिससे उसे एक विशेष प्रकार के आनन्द का अनुभव हुआ। आलोचक को इन दोनों ही प्रकार के प्रभावों पर प्रकाश डालना चाहिए तथा साथ ही उसे उस प्रभाव पर दृष्टिपात करना चाहिए जिसका पड़ना साधारण जनता पर सम्भव, स्वाभाविक और अनिवार्य है। इसी प्रभाव के उत्पादन की न्यूनाधिक सफलता से रचना की मूल्यता में न्यूनाधिक महत्त्व आता है।

यह ठीक है कि प्रत्येक रचना अपना प्रभाव पाठकों पर डालती है, किन्तु यदि इसी प्रभाव को आलोचना की कसौटी मान लें तो आलोचना सर्वथा एक व्यक्तिगत बात ही हो जाती है क्योंकि प्रभाव स्वतः एक

साथ ही, जैसा प्रथम संकेत रूप में कहा गया है, आलोचक रचना के द्वारा उन प्रभावों की ओर भी अंगुल्या-निर्देश कर सकता है, जो रचयिता के ऊपर उसकी समाज, परिस्थितियों, परम्पराओं, शिक्षा एवं अनुभूति आदि के द्वारा डाले गये हैं। इन सबके क्या और कैसे प्रभाव रचयिता पर पड़े हैं और उनके कारण उसकी रचना में क्या विशेषतायें आगई हैं, ऐसी बातों का भी एक चतुर समालोचक यथेष्ट अनुमान कर सकता है। यह तीसरे प्रकार का प्रभाव-प्रदर्शन है। इस प्रकार की आलोचना से रचयिता की जीवनी (उसके व्यक्तित्व एवं चरित्रादि) पर भी यथेष्ट प्रकाश पड़ता है और उसके विषय में बहुत कुछ जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

व्यक्तिगत अनुभूति वस्तु है। उसके औचित्यानौचित्य का कुछ भी विचार साधारण और व्यापक रूप में नहीं किया जा सकता।

रचना के प्रभाव का सब पर एक-सा पड़ना भी आवश्यक नहीं, वह पाठकों को उनकी विशेष रुचि, अन्तःप्रकृति या प्रवृत्ति आदि के कारण भिन्न भिन्न प्रकार से प्रभावित करता है, और जिस पर जैसा प्रभाव पड़ता है वह उस रचना को वैसा ही कहता है—अब इसका निर्णय कैसे हो सकता है कि किस पर उसका ठीक और किस पर अनुचित प्रभाव पड़ा। यही इस प्रकार की आलोचना और इस सिद्धान्त की न्यूनता है, जिसके कारण आलोचना कभी व्यापक, सर्वमान्य (बहुमान्य) उचित या सर्वांग शुद्ध और निष्पक्ष नहीं हो सकती। उसमें निश्चित स्थैर्य नहीं आ सकता, और न वह एक व्यवस्थित विज्ञान या शास्त्र ही का रूप प्राप्त कर सकता है।

रचना से रचयिता के विषय में जो कुछ तर्क के साथ जानकारी आलोचक प्राप्त करता है उसके साथ वह उसकी रचना का मिलान करता हुआ अपना मत प्रकट कर सकता है। इस प्रकार की आलोचनाशैली प्रायः प्राचीन कवियों और उनकी रचनाओं के ही सम्बन्ध में अधिक उपयुक्तोपादेय ठहरती है। विशेषतया ऐसे लेखकों या कवियों के सम्बन्ध में जिनकी जीवनियाँ वास्तविक रूप में उपलब्ध नहीं हैं।

ऐसी आलोचना से रचयिता की जीवनी पर तो प्रकाश पड़ता ही है साथ ही प्रायः उस रचयिता की समकालीन कतिपय आवश्यक और विशेष बातों की ओर भी संकेत प्राप्त हो जाता है, उस समय की रचना-शैली, विचार-धारा, परम्परा-पद्धति जैसी विशेष और साहित्योपयोगी मार्मिक बातों का भी बहुत कुछ परिचय या प्रतिबिम्ब प्राप्त हो जाता है, जिससे साहित्य-प्रेमियों या अन्वेषकों का विशेष मनोरंजन और हित भी होता है।

वर्तमान कवि या लेखक की रचना पर इस शैली से दृष्टिपात करना प्रायः उपयुक्त और अच्छा नहीं होता*। क्योंकि

---

* हमारे यहाँ यह एक नियम-सा है कि वर्तमान अर्थात् जीवित कवि या लेखक की रचना की आलोचना न करनी चाहिए। इसके मुख्यतया दो कारण जान पड़ते हैं :—१—प्रत्येक व्यक्ति की प्रतिभा, योग्यता, अनुभूति आदि का प्रतिदिन विकास होता रहता है अतएव किसी जीवित लेखक या कवि की रचना को आलोचनात्मक दृष्टि से

इस शैली में अनुमान का ही प्रायः विशेष प्राबल्य या प्राधान्य रहता है, अस्तु इसके आधार पर निकाला गया निष्कर्ष या

देखते हुए यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वह किस कोटि की है क्योंकि उस रचना में वह आगे परिवर्धन, संशोधन (परिमार्जन) एवं अपने इच्छानुसार नवीन परिवर्तन कर सकता है, अस्तु इस समय की गई आलोचना फिर आगे उसी परिवर्धित या परिष्कृत रचना पर सर्वथा चरितार्थ न होगी और अनुपयुक्त ठहरेगी, साथ ही उसमें भी नये संशोधन की आवश्यकता होगी। अस्तु जब किसी लेखक या कवि की प्रतिभा अपनी अन्तिम सीमा तक विकसित होती हुई पहुँच जावे और उसका विकास फिर बंद हो जाये (चाहे किसी भी प्रकार से ऐसा हो—उस लेखक या कवि की मृत्यु से या रचना-कार्य की इतिश्री करने आदि से) तब उसकी रचनाओं का आलोचनात्मक विवेचन किया जा सकता है,—यही निश्चित और मानने के योग्य होता हुआ स्थिर-सा ही होगा,—और उसके स्थान या मूल्य का भी निर्णय किया जा सकता है।

२—प्रायः देखा जाता है कि यदि किसी सत्समालोचक ने किसी रचना की आलोचना करते हुए सद्भाव के साथ भी सत्यता से कुछ दोष-दर्शन करा दिया तो उसका रचयिता और उसके पक्षवाले आलोचक उससे शत्रुता-सी कर लेते हैं और उसका अपमान-सा करते-कराते हैं—जो अच्छा फल नहीं दे सकता। ऐसी दशा का ही विचार करके जीवित लेखक या कवि की आलोचना करना उपयुक्त नहीं कहा गया।

किन्तु अब इधर कुछ दिनों से इस प्रकार के विचारों की उपेक्षा एवं अवहेलना की जाती है और इस नियम का पालन इसे अनुपयुक्त और अनुपयोगी समझकर नहीं किया जाता। अब लोगों की यह धारणा

निर्णय सर्वथा शुद्ध और सत्य न होकर केवल बहुत कुछ सम्भव हो-सा रहता है, और केवल ऐसी ही दशा में मूल्यवान्, महत्त्वपूर्ण और मानने के योग्य ठहरता है जब और किसी भी प्रकार रचयिता के सम्बन्ध में कुछ विशेष न जाना

हो चली है कि जीवित कवि या लेखक की आलोचना (विशेषतया दोष-प्रदर्शनी किन्तु सुधारसूचिका आलोचना) अत्यंत उपादेय (उस लेखक और कवि के लिए तथा समस्त जनता के लिए भी) और लाभकारक होती हुई आवश्यक ही नहीं बल्कि अनिवार्य्य है। आलोचना से वह लेखक या कवि अपनी रचना में आगे सुधार कर सकता है और दूसरे लेखक या कवि भी उसको देखकर उन दोषों से अपनी रचनाओं को बचा सकते हैं, जिससे रचना-कला तथा भाषा-साहित्यादि का यथेष्ट हित हो सकता है। इससे जनता को भी भूल में पड़कर भटकने का भय नहीं रहता। अस्तु अब जीवित कवियों और लेखकों की भी रचनाओं पर आलोचनायें लिखी जाती हैं।

यहाँ यह भी कह सकते हैं कि जीवित कवियों और लेखकों की रचनाओं पर आलोचनात्मक प्रकाश डालते समय दोष दिखाने में जितनी तीव्रता का उपयोग आलोचकों के द्वारा किया जाता और जा सकता है उतनी तीव्रता का प्रयोग मृत-कवियों या लेखकों की रचनाओं की आलोचनाओं में नहीं किया जाता और जा सकता—क्योंकि मृतात्माओं के प्रति कुछ विशेष सम्मान और सहानुभूति का भाव रक्खा जाता है—यह शिष्टता और सभ्यता की याचना है जिसे पूरा ही करना पड़ता है। मृत-पुरुषों के दोषों एवं दुर्गुणों को भुलाना और गुणों को ही प्रकट करना समीचीन होता है।

—लेखक

जा सके। वर्तमान रचयिताओं के लिए यह बात नहीं क्योंकि उनका परिचय और भी कई प्रकार से यथार्थता के साथ प्राप्त किया जा सकता है जो विशेष रूप से मानने के योग्य होता है। अस्तु वर्तमान लेखकों या कवियों तथा ऐसे रचयिताओं की रचनाओं पर, जो बहुत ही थोड़े समय पूर्व तक जीवित रहे हैं, इस शैली से आलोचनात्मक प्रकाश न डालकर एक दूसरे ही ढंग से डाला जाता है—अर्थात् उनकी सच्ची जीवनी का यथेष्ट परिचय प्रथम प्राप्त करके उसी के आधार पर उनकी रचनाओं की आलोचना की जाती है और उनके व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब-प्रभाव उनकी रचनाओं में देखा जाता है। यह उक्त शैली का विलोम रूप-सा है।

कुछ लोगों का यह सिद्धान्त है कि प्रत्येक लेखक या कवि की रचना में उसके व्यक्तित्व का कुछ न कुछ प्रतिबिम्ब अवश्य पड़ा हुआ मिलता है और यह दो रूपों में—(१) व्यक्तरूप में (Directly)—अर्थात् बिलकुल सीधे सीधे और स्पष्ट ढंग से—(२) अव्यक्त (Indirectly) रूप में—अर्थात् छिपे हुए ढंग से और घुमाव-फिराव के साथ—प्राय: कवि या लेखक अपने अनुभवों की छाया के ही आधार पर रचनायें करते हैं और इसी लिए उनमें उनकी अनुभूति-व्यंजना स्पष्ट रूप से झलकती रहती है, उनकी प्रकृति, मनोवृति आदि की भी छाया दिखलाई पड़ती रहती है, और उनके चरित्रादि का भी प्रतिबिम्ब पड़ा हुआ पाया जाता है। कुछ चतुर और कला-कुशल लेखक या

कवि चातुर्य के साथ इस प्रकार रचना करते हैं कि उनकी रचना, उनकी अनुभूति आदि से सम्बन्ध रखती हुई भी ऐसी रहती है कि उससे स्पष्ट रूप में उनकी अनुभूति आदि का निश्चित रूप से परिचय नहीं प्राप्त किया जा सकता, और यदि प्राप्त भी किया जा सकता है तो बड़ी कठिनाई और अस्पष्टता के साथ। इसी वैचित्र्य में उनका चातुर्य और कौशल रहता है और इसी के कारण वे प्रशस्त तथा सिद्धहस्त माने जाते हैं।

एक दृष्टि से यह विचार सर्वथा या बहुत अंश में सत्य एवं स्वाभाविक-सा है। वास्तव में कोई भी लेखक या कवि हो, वह रचना—किसी भी प्रकार की हो—करते समय अपने अनुभव, ज्ञान, मन, मस्तिष्क आदि को सर्वथा अपने से पृथक् कर हटा न रख देगा—और न रख ही सकता है—वह जो कुछ भी लिखेगा उसमें इन सबका कुछ न कुछ प्रतिबिम्ब कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में अवश्यमेव पड़ेगा*।

---

* इसी विचार या सिद्धान्त के आधार पर दो प्रकार से आलोचनायें की जाती हैं -१—रचना को देखकर उसी के आधार पर रचयिता के विषय में जानना और उसकी मनोवृत्ति आदि पर प्रकाश डालकर अपना मत स्थिर करना।

२—रचयिता को जानकर उसकी रचना को देखना और दोनों का मिलान करते हुए उनका सामंजस्य देखकर निर्णय करना।

दोनों शैलियाँ एक दूसरे की विलोम हैं।

—लेखक

वह यह भले ही कर सकता है कि अपने चातुर्य एवं कला-कौशल के प्रभाव से वह उसे अस्पष्ट और दुर्बोध-सा बना दे। काव्य, उपन्यास, कहानी, नाटक आदि साहित्यिक रचनाओं में तो यह सिद्धान्त सर्वथा चरितार्थ होता हुआ मिलता है क्योंकि इनका सम्बन्ध बहुत कुछ लेखक या कवि से ही रहता है। हाँ अन्य विषयों की रचनाओं में यह सिद्धान्त चरितार्थ भी होता है (हो सकता है) और नहीं भी होता या हो सकता। जहाँ कहीं कोई बात ऐसी आजायेगी जिसका सम्बन्ध व्यक्ताव्यक्त किसी भी रूप में रचयिता के मन, मस्तिष्क या हृदय से होगा वहीं स्पष्टास्पष्ट रूप से यह सिद्धान्त घटित हो सकेगा। अन्यथा इस सिद्धान्त के घटित होने की सम्भावना कम रहेगी।

कभी कभी कुछ लेखक या कवि रचना-कला ही के लिए रचना करते हैं, उनका उद्देश्य "कला कला के लिए है (art for art's sake) या काव्य-साहित्य केवल काव्य-साहित्य के ही लिए है (poetry for poetry's sake)" इस रूप में रहता है तथा उनकी प्रतिभा ऐसी बहुमुखी, प्रौढ़ तथा कुशल रहती है कि वे अनेक विषयों में विविध प्रकार की रचनायें भिन्न भिन्न शैलियों या रीतियों से समान सफलता के साथ करने में सर्वथा समर्थ होते हैं और ऐसा करते भी हैं, किन्तु यह बड़े प्रगाढ़ अभ्यास, प्रौढ़ प्रतिभा और प्रशस्त पांडित्य का कार्य है, जो प्राय: बहुत ही कम पाया जाता है। ऐसे लेखक

या कवि किसी देश या समाज के रत्न होते हुए अलभ्य और दुष्प्राप्य होते हैं। हमको इन्हें अपने समस्त साधारण नियमों का अपवाद ही मानना पड़ता है। ऐसे ही लेखक या कवि रचना-कला में युगान्तरकारी एवं नई नीति-रीति के विधाता होते हैं। रचना-कला को ये अपने अनुसार चलाते हैं न कि आप स्वयं रचना-कला के अनुसार चलते हैं। अस्तु ये विश्व-साहित्य एवं विश्व-कला-कौशल के कर्ता-धर्ता कहे जाते हैं। ऐसे लोगों को छोड़ कर समस्त साधारण लेखकों या कवियों के सम्बन्ध में उक्त नियम सब प्रकार चरितार्थ ही होता हुआ मिलता है।

अस्तु अब निष्कर्ष यह हुआ कि किसी लेखक या कवि की जीवनी को भले प्रकार जानकर तथा उसकी परिस्थिति, समाज, योग्यता, अनुभूति, प्रकृति, मनोवृत्ति, उसके स्वभाव, आचार-व्यवहार, चरित्रादि का यथोचित एवं यथासम्भव पूर्ण परिचय प्राप्त कर चुकने पर उसकी रचना पर आलोचनात्मक दृष्टि डाली जा सकती है और रचयिता और रचना दोनों का मिलान किया जा सकता है। दोनों के सामञ्जस्य का निर्णय किया जाकर अपना मत स्थिर किया जा सकता है।

आलोचना की यह शैली मनोविज्ञान एवं चरित्रविज्ञान (Psychology or moral ethics) से बहुत अधिक सहायता लेती है और कह सकते हैं कि इन पर ही यह प्रधानतया समाधारित भी है। इस विचार से इसे मनोवैज्ञानिक

(psychological) शैली कह सकते हैं। वर्तमान या जीवित लेखकों या कवियों की रचनाओं के लिए ही यह शैली विशेष उपयुक्त ठहरती है*।

जैसा प्रथम लिखा जा चुका है कि प्रत्येक प्रकार की रचना का कुछ न कुछ उद्देश्य एवं लक्ष्य अवश्यमेव होता है। इस उद्देश्य या लक्ष्य के आधार पर भी उस रचना की आलोचना की जा सकती है। यदि लेखक अपनी रचना में या उसके द्वारा अपने उद्देश्य की पूर्ति करने में सफल हुआ है तो वह सराहनीय है अन्यथा जिस अंश में वह जितना सफल या असफल हुआ है उसी अंश में वह उतना ही सराहनीय या उपेक्षणीय हो सकता है। कभी कभी किसी रचना का उद्देश्य ऐसा होता है जो प्रधानतया रचना से सम्बन्ध न रखकर रचयिता से ही सम्बन्ध रखता है और प्रायः वह व्यौपारिक (Businesslike) या आर्थिक दृष्टिकोण रखता है, रचना का विषय तो कुछ रहता है और उद्देश्य कुछ, जिसका सम्बन्ध उस विषय के उद्देश्य से कुछ भी नहीं रहता। लेखक का उद्देश्य उस रचना के द्वारा कुछ

* रचना-पद्धति की बाहरी बातों के साथ ही रचयिता के जीवन, स्वभाव आदि का भी अध्ययन करते हुए तज्जन्य अनुभव के आधार पर उसकी अंतर्वृत्तियों का भी मार्मिक अनुसंधान किया जा सकता है और उसकी विशेष विशेष बातें भी दिखलाई जा सकती हैं। इसी में रचयिता के दार्शनिक, वैज्ञानिक और सामाजिक आदि विचार भी देखे जा सकते हैं। इस प्रकार इसे दार्शनिक और वैज्ञानिक भी बनाया जा सकता है। इस मनोवैज्ञानिक पद्धति के प्रवर्तक पाश्चात्य संसार में प्रसिद्ध फ़्रांस के आलोचक Mr. Taine हैं।

आर्थिक या अन्य प्रकार के लाभ उठाने का रहता है। ऐसा उद्देश्य आलोचक के लिए उपेक्षणीय ही होना चाहिए। उसे तो उसी उद्देश्य एवं लक्ष्य का विचार करना चाहिए जिसका सीधा सीधा सम्बन्ध स्पष्ट रूप से स्वभावतः ही उसकी आलोच्य रचना-वस्तु से है।

किसी रचना को लेकर आलोचक कभी कभी उसकी वस्तु या उसके विषय का आद्योपान्त यथेष्ट अध्ययन कर यथाक्रम अथ से इति तक उसकी विशद विवेचना करता जाता है और जैसा वह उसे जहाँ समझता है वैसा ही वहाँ अपने पाठकों को भी समझाता हुआ चलता है। साथ ही जहाँ जैसी विशेषता उसे उस रचना में मिलती है—चाहे उसका सम्बन्ध रचना-वस्तु, भाषा, शैली आदि किसी से भी हो—उसे भी वह स्पष्ट रूप में व्यक्त करता जाता है। इस प्रकार रचना का सांगोपांग विवेचन कर उसके मार्मिक स्थलों पर प्रकाश डालता हुआ वह उसकी गूढ़ ग्रंथियों, रहस्यमयी बातों तथा तन्निहित नियमों या सिद्धान्तों का भी स्पष्टीकरण करता है। इसी के साथ यदि वह उस रचना के सम्बन्ध में अपना निर्णय या मत भी प्रकट करता है तब तो यह निर्णयात्मक विवेचन नहीं तो विषय-विवेचनात्मक अवलोकन (Explanatory Review) हो जाता है। इस प्रकार के विषय-विवेचन की भी अपनी स्वतन्त्र महत्ता एवं सत्ता है। यह प्रायः विद्यार्थियों आदि के लिए ही अधिक उपयुक्त और उपयोगी है क्योंकि उनको

आलोचनात्मक अध्ययन में बहुत सहायता पहुँचाता है। इसके उत्तम उदाहरण तुलसीग्रन्थावली, जायसीग्रन्थावली, कबीरवचनावली और ऊधवशतक की भूमिकाओं में मिलते हैं। इस समय इस प्रकार की विषय-विवेचनात्मक शैली का प्राधान्य-प्राबल्य हो रहा है। इसमें आलोचक अपने मत या निर्णय का कुछ भी अंश नहीं देता, यदि बहुत हुआ तो केवल उसकी ओर अव्यक्त रूप से किंचित् संकेतमात्र कर देता है, और इस प्रकार पथ-प्रदर्शन-सा करके उस विशद विवेचन के आधार पर उस रचना के सम्बन्ध में निर्णय करने का कार्य वह पाठकों पर ही छोड़ देता है।

यहीं पर यह भी कह सकते हैं कि आलोचक अपनी आलोच्य पुस्तक की आलोचना को एकदेशीय या एकांगी अथवा सर्वदेशीय या सर्वांगी रख सकता है। यदि वह किसी एक विशेष दृष्टिकोण को प्रधानता देकर उसी के आधार पर आलोचना करता है और आलोच्य वस्तु की उन्हीं बातों पर विशेष रूप से प्रकाश डालता है तथा उसके दूसरे गुणों या उसकी दूसरी विशेषताओं पर ध्यान नहीं देता तो उसकी आलोचना एकांगी या एकदेशीय कही जा सकती है। यदि तुलसीदासजी की रामायण पर कोई आलोचक इस दृष्टि से आलोचनात्मक प्रकाश डालता है कि उसमें स्त्री-समाज के लिए कहाँ क्या कहा गया है, किस रूप में स्त्रियों का चरित्र-चित्रण तथा उनकी प्रकृति का प्रदर्शन किया गया है;

स्त्रियों के सम्बन्ध में कवि ने कहाँ, कैसे और किस रूप में अपने विचार प्रकट किये हैं, उनका क्या प्रभाव पड़ा है अथवा पड़ सकता है, वे कहाँ तक मान्य अथवा त्याज्य हैं, कहाँ तक वे व्यापक और संकीर्ण ठहरते हैं, तथा किस अंश में वे शुद्धाशुद्ध हैं, तो उसे समस्त रामायण में, इसी सम्बन्ध की चौपाइयों पर दृष्टिपात करना होगा और उन्हें चुनकर, उन्हीं के आधार पर अपना विचार प्रकट करना होगा। रामायण में मानव-प्रकृति-चित्रण, काव्य-कला, वर्णन-वैचित्र्य, आदि जो अन्य विशेषतायें हैं, उन्हें उसे छोड़ देना होगा। इस प्रकार इसकी आलोचना एकदेशीय या एकांगी होगी। किन्तु यदि ऐसा न करके आलोचक रामायण की सभी विशेषताओं पर, चाहे वे काव्य-कला-सम्बन्धिनी हों चाहे भाषा-सम्बन्धिनी या शैली, विषय अथवा रचना-वस्तु से सम्बन्ध रखती होंगी, विचार करके अपना मत प्रकट करेगा तो उसकी आलोचना सर्वदेशीय या सर्वांगी होगी।

यह आलोचक की स्वतन्त्र इच्छा पर ही निर्भर है कि वह इन दोनों में से किसी एक मार्ग को ग्रहण करे। कभी कभी आलोच्य पुस्तक भी इनमें से किसी एक मार्ग के ग्रहण करने की ओर संकेत करती है। यदि आलोच्य-वस्तु व्यापक निरीक्षण के अनन्तर आलोचक को इस प्रकार का कोई विशेष संकेत देती है तो आलोचक उसके ही अनुसार उसकी आलोचना कर सकता है।

यहीं यह कहना भी उचित जान पड़ता है कि आलोचना में या तो विषय-विवेचना या व्याख्या को प्रधानता दी जा सकती है या निर्णय या आलोच्य-वस्तु के मूल्य को। या दोनों को ही सामान्य रूप से स्थान दिया जा सकता है। प्राय: विषय-विवेचन और वस्तु-स्पष्टीकरण (आलोच्य रचना में रचयिता के भावों का सम्यक् बोध कर लेने पर) निर्णय का एक विशेष साधन माना जाता है और इसके साथ ही रचना-वस्तु का वह प्रभाव भी देखा जाता है जो आलोचक पर पड़ा है और जनता पर जिसके पड़ने का वह अनुमान करता है। अब उक्त दोनों बातों (व्याख्या और निर्णय) को एक दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र भी लिया जाने लगा है।

अब यह धारणा कुछ प्रधान हो चली है कि आलोचक का प्रमुख कर्तव्य आलोच्य रचना का स्पष्टतया खोलकर सुव्यक्त कर देना ही है, रचना-मूल्य और निर्णय को भी यद्यपि इसके साथ स्थान दिया जा सकता है किन्तु यह विशेष आवश्यक और मुख्य बात नहीं।

इस दृष्टि से आलोचक का कार्य है अपनी तीव्र तथा सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि (Insight) के द्वारा आलोच्य रचना के अन्तरतम में प्रवेश कर उसके समस्त मर्मों और उसकी रहस्य-ग्रंथियों को सुलझाकर सुव्यक्त रूप से पृथक् करना, प्रमुख विशेषताओं और रुचिर-रोचक गुणों (तथा खटकनेवाले दोषों) का विश्लेषण करना, स्थायी और अस्थायी बातों को चुनना,

कला-कौशल-नियमों (नीति-रीतियों) या सिद्धान्तों का निकालना, चाहे वे व्यापक हों या विशेष, और चाहे उन्हें रचयिता ने जानबूझ कर सन्निहित किया हो या वे स्वतः प्रसंग-प्रभाव से ही उद्भूत हो गये हों। अर्थात् इस प्रकार आलोचक का कर्तव्य है आलोच्य रचना की अस्पष्ट, अव्यक्त और दुर्बोध बातों को स्पष्ट, सुव्यक्त और सुबोध करना।

अस्तु आलोचक को चाहिए कि वह आलोच्य रचना के मर्मों को खोलता हुआ, उसकी विशेषताओं पर प्रकाश डाल कर समस्त वस्तु को स्पष्टतया ऐसा समझा दे, जिससे पाठकों को यह विदित हो सके कि रचना-वस्तु क्या है, रचना कैसी है, उसमें लेखक का क्या भाव, उद्देश्य तथा विशेष चमत्कार-चातुर्य है और रचना-कला का कहाँ कैसा कौशल और आकार-प्रकार है, भाषा और शैली में कहाँ क्या कैसी रुचिर रोचकतायें हैं। यदि वह इतना कर देता है तो वह चाहे अपना निर्णय या मत प्रकट करे या न करे, और चाहे उस रचना के मूल्य-निर्धारण का कार्य सहृदय पाठकों पर ही छोड़ दे।

ऐसा करते हुए वह केवल रचना में ही अपने को सीमित रख सकता है अथवा यदि वह चाहे तो तत्कालीन रचना-परम्परा या परिपाटी को भी दिखलाते हुए किसी अन्य रचना और रचयिता से अपनी आलोच्य रचना तथा उसके रचयिता का मिलान कर सकता है और यों वह उस पर विशेष प्रकाश बाहर से भी डाल सकता है।

आलोच्य रचना पर इस प्रकार विवेचनात्मक प्रकाश डालते हुए आलोचक को एक वैज्ञानिक अन्वेषक (Investigator) की भाँति रचना को यथा स्यात्तथा रूप में देखते हुए उसकी उन रुचिर रोचकताओं तथा मार्मिक प्रभावकारिणी विशेषताओं के आधार पर, जिनके कारण उस रचना में रुचिर रोचकतादि के आकर्षक गुण आये हैं, रचना के व्यापक या विशेष नियमों या सिद्धान्तों का प्रस्फुटन करना चाहिए। उसके लिए यदि इस सब कार्य में कुछ प्रमाण हो सकता है तो केवल साहित्यिक रचना ही*।

* अस्तु कह सकते हैं कि किसी आलोच्य रचना की समस्त बातों को सुव्यवस्थित ढङ्ग से स्पष्टतया सम्मुख उपस्थित कर उनकी अनेक प्रकार से विवेचना या विग्रह करना इस प्रकार की आलोचना का मूल उद्देश्य है। आलोचक को इस प्रकार की आलोचना करते हुए अपने को रचना-वस्तु तक ही परिमित रखना चाहिए और उसी के अन्दर पैठ-बैठकर रचयिता की अंतर्वृत्तियों की भी छानबीन करनी चाहिए, समस्त विचार-धारा और उसकी सम्पूर्ण तरंगावलि की विग्रहात्मक व्याख्या करते हुए उसकी मौलिक और रुचिर-रोचक विशेषताओं को खोज खोजकर प्रकट करना चाहिए। इस विचार से इसे विग्रहात्मक आलोचना भी कह सकते हैं।

कुछ लोगों का विचार है कि रचना में आलोच्य वस्तु अथवा वह वस्तु जिस पर आलोचक को ध्यान देना चाहिए, वास्तव में रचना-सौंदर्य है। यह सौंदर्य रचना के तीनों प्रमुख अंगों—१—भाव या रचना-वस्तु, २—भाषा, और ३—शैली या प्रकाशन-रीति या ढंग में रहता है और, इन्हीं में देखा जा सकता है। यदि रचना के उक्त सभी अंगों में सौंदर्य

इस प्रकार की आलोचना वैज्ञानिक और सिद्धान्तान्वेषिणी (Inductive criticism) कही जाती है। इस वैज्ञानिक

की प्राप्ति यथेष्ट मात्रा में होती है तो रचना उत्तम है, अथवा जिस अंग में जैसी तथा जितनी मात्रा में सौंदर्य पाया जाता है, वह अंग वैसा ही और उतनी ही मात्रा में सफल ठहरता है। जिस आलोचना में सौंदर्य को ही प्रधानता दी जाती है, उसे प्रायः सौंदर्यदर्शनी (Æsthetic criticism) आलोचना कहा जाता है। यद्यपि सौंदर्य का भाव या उसकी अनुभूति-भावना व्यक्तिगत ही होती है और रुचि-पार्थक्य के आधार पर भिन्न भिन्न रूप रखती है, तथापि व्यापक और प्राकृतिक रूपों के आधार पर इसके कुछ ऐसे सर्वमान्य, स्वाभाविक और स्थिर सिद्धान्त कल्पित किये गये हैं जिन्हें सौंदर्य शास्त्र (Æsthetic science) प्रकट करता है। सौंदर्य के सहचर हैं आकर्षण (attraction), सुखानुभूति या प्रमोद-भावना (Feeling of Pleasure), प्रशंसा (Praise or appreciation) और प्रेमानुराग (Love and desire to own)।

हमारे यहाँ साहित्यिक या काव्य-सम्बन्धी रचना के सौंदर्य की बड़ी ही मार्मिक, गूढ़, स्वाभाविक, सांगोपांग और विशद विवेचना काव्य-शास्त्र के विविध ग्रंथों में विद्वान् साहित्य-मर्मज्ञों या आचार्यों के द्वारा की गई है। रचना-वस्तु या काव्य-वस्तु, भाषा, तथा शैली तीनों के सौंदर्य-सम्बन्धी रूपों की विग्रह एवं व्याख्या बड़ी कुशलता के साथ की जा चुकी है। रचना के कलेवर या भाव के परिधान के रूप में भाषा को मानकर उसको सुन्दर बनानेवाले विविध आभूषणों और रुचिर-रोचक उपकरणों की कल्पना की गई है, जिन्हें अलंकार या भाषा-भूषण (Figures of Speech) कहते हैं, शैली के भिन्न भिन्न रूपों की सुन्दरताओं की

युग में इसी को विशेष महत्त्व दिया जाता है। योरोप आदि पाश्चात्य देशों में भले ही इस प्रकार की आलोचना-पद्धति उपयुक्त और उपयोगी ठहराई जाये किन्तु हमारे यहाँ यह समय इस आलोचना के लिए नहीं। हमारा साहित्य तथा साहित्य-शास्त्र (साथ ही आलोचन-कला) बहुत आगे बढ़ चुका है। हाँ एक समय ऐसा अवश्य था जब इस प्रकार की आलोचना-पद्धति का प्रचार-प्रस्तार बड़े प्राबल्य एवं प्राधान्य के साथ यहाँ भी हुआ था, और इसी के आधार पर काव्यशास्त्र के रचनात्मक नियमों की गवेषणा तथा कल्पना की जा रही थी। वस्तुत: जब तक हमारे यहाँ का काव्य-शास्त्र पूर्णता को न प्राप्त हो

भी व्याप्ति इन्हीं में कर दी गई है। हाँ रचना के प्राण के निश्चय करने में मत-भेद है, जिसके कारण काव्य-शास्त्र में कुछ जटिलता और गूढ़ता-सी आ गई है। कोई आचार्य रस (Sentiments) को रचना (काव्य) का प्राण मानता है, कोई रीति (रचना-शैली) को, कोई वक्रोक्ति या वैचित्र्य (Peculiar expression) को, और कोई ध्वनि (Suggestive sense) को, किन्तु वास्तव में चातुर्य-चमत्कृत रमणीयता या आनन्दप्रद सुन्दरता, जो सहृदय जनों के मनों को समाकृष्ट कर अपने वश में कर ले, सभी में सन्निहित जान पड़ती है और यह रमणीयता भाषा, भाव तथा शैली सर्वत्र व्यापक-सी रहती है।

पाश्चात्य देशों में अभी तक रचना-सौंदर्य (Beauty) का सर्वसम्मत निश्चय नहीं हो सका। वहाँ के सुयोग्य वैज्ञानिक आलोचक अभी तक बराबर इसके असली रूप-रङ्ग की खोज में लगे हैं, वहाँ भी इस सम्बन्ध में बहुत मतभेद है और इसी लिए आलोचना एवं उसके सिद्धान्तों में भी भिन्न भिन्न भेद-प्रभेद, तथा प्रकारान्तर पाये जाते हैं।

सका था तब तक इसी प्रकार की आलोचना से कार्य किया जाता था, किन्तु अब हमारा काव्य-शास्त्र सब प्रकार पूर्ण ही-सा हो गया है और इसी लिए अब इस प्रकार की आलोचना कुछ विशेष उपयोगी नहीं रह गई। काव्य-शास्त्र के पूर्ण हो जाने पर उसी के आधार पर की जानेवाली निर्णयात्मक आलोचना (Judicial criticism) की उपयोगिता और आवश्यकता हुई और उसी का प्रचार और प्राबल्य भी हो चला। इस समय तक काव्य-शास्त्र और साहित्य पर्याप्त रूप में भरापूरा हो चुका है, अब आवश्यकता है गुण-दोष-विवेचिनी और निर्णयात्मक आलोचना के द्वारा रचनाओं और सिद्धान्तों के यथोचित रूप से श्रेणी-विभाग करने और रुचिर-रोचक रत्नों को अन्य प्रकार के प्रस्तर-खंडों से चुनकर पृथक् करने की। इसी लिए मध्य-काल से अब तक ऐसा ही कार्य होता आ रहा है।

हाँ इधर की ओर हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में खड़ी बोली के काव्य का नव विकास-प्रकाश हो रहा है, और उस पर अँगरेज़ी, बँगला आदि भाषाओं के साहित्यों (उनके सिद्धान्तों, उनकी शैलियों, एवं अन्य प्रकार की रुचिर रोचकताओं या विशेषताओं) का गहरा प्रभाव पड़ रहा है, जिससे वह प्राचीन परिपाटी के काव्य-साहित्य से कुछ भिन्न-सा हो चला है और प्राचीन काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों की सीमा से कुछ अन्यत्र या बाहर जा रहा है। ऐसी दशा में उसके लिए फिर आवश्यकता है सिद्धान्तान्वेषिणी (Inductive criticism) आलोचना की,

जिसके आधार पर काव्य की नवीन विशेषताओं की खोज की जा सके और उनके आधार पर रचना-सम्बन्धी कुछ अन्य नये और विशेष नियम निर्धारित किये जा सकें।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि अब निर्णयात्मक आलोचन का कुछ महत्त्व ही नहीं है और उसका समय ही अब नहीं रह गया है। दोनों ही प्रकार की आलोचनायें अपनी अपनी महत्ता और सत्ता विशेष रूप से रखती हैं, और दोनों ही हमारे लिए उपयुक्त तथा उपादेय हैं। यदि निर्णयात्मक आलोचना रचनाओं और रचयिताओं के गुण-दोषानुसार श्रेणी-विभाजन का उद्देश्य रखती है और रचना-रुचिरता आदि के अन्तर को सफलता के अंशों पर आधारित करती है तो वैज्ञानिक आलोचना उनके प्रकारान्तर (differences in kind) की ओर झुकती है, यद्यपि रचनाओं के और लेखकों के भी अन्तरों का वह विचार रखती है और उनके ही आधार पर रचना के व्यापक नियमों की खोज करती है, तथापि उनके पारस्परिक मूल्य-निर्धारण की ओर वह नहीं जाती।

निर्णयात्मक आलोचना की दृष्टि से रचना-नियम वैसे ही अनिवार्य ठहरते हैं जैसे चरित्र-नियम या राज्य-नियम। यह नियम अवश्यम् परिपालनीय और मान्य होते हुए बाह्यशक्ति के द्वारा सशक्त किये जाते हैं। इनका रूप प्राय: "चाहिए" (Ought) के ही रूप में रहता है, किन्तु वैज्ञानिक आलोचना से उद्भूत होनेवाले नियम ठीक प्रकृति-नियमों के ही

समान निरीक्षित या अनुभूत बातों के व्यापक (Generalised) वाक्यों (Statements) के रूप में रहते तथा बाह्य शक्ति से सबलीकृत और अनिवार्य नहीं बनाये जाते। ऐसी दशा में आलोचक किसी आलोच्य रचना में यह नहीं देखता कि स्वतंत्र रूप से रचे गये रचना-नियम उसमें चरितार्थ होते हैं या नहीं, और यदि घटित होते हैं तो कहाँ तक और किस रूप में, कहाँ तक रचना उन नियमों से नियंत्रित और सफलता के साथ मर्यादित की गई है, वरन् यह देखता है कि किन विशेषताओं के कारण रचना रुचिर और रोचक हो सकी है, उन्हीं को निकाल कर वह व्यापक नियमों का रूप दे देता है।

निर्णयात्मक आलोचना-रचना-सिद्धान्तों को निश्चित नियमों या मापकों (Standard या Norm) के समान स्थिर मानकर चलती है और उन्हीं के द्वारा आलोच्य रचनाओं को तौलकर उनका मूल्य निर्धारित करती है। इसी लिए ऐसी आलोचनायें परस्पर पार्थक्य और वैलक्षण्य रखती हैं क्योंकि सिद्धान्तों और मापकों में ही रुचि-पार्थक्य के कारण महदन्तर देखा जाता है, और वे परिवर्तनशील से पाये जाते हैं। वैज्ञानिक आलोचना, उस रचना-वस्तु और उसकी उन विशेषताओं या रुचिर रोचकताओं पर दृष्टिपात करती है, जो सर्वथा निश्चित और स्थिर रहती है और इसी लिए इस आलोचना के द्वारा कल्पित किये गये व्यापक वाक्य (जो नियमों का-सा ही रूप रखते हैं) भी स्थैर्य रखते हैं, उनमें साम्य और एकता

का ही प्राधान्य रहता है। इस बात के होते हुए भी रचना-मापक की महत्ता और सत्ता अबाध ही-सी मानी गई है।

यह भी अनुभव-सिद्ध तथा एक प्रत्यक्ष-प्रमाण-पुष्ट बात है कि साहित्य और काव्य-शास्त्र भिन्न भिन्न समयों एवं स्थानों में देश-काल और परिस्थितियों के प्रभाव से परिवर्तित, रूपान्तरित और विकसित होते आये हैं और विकाशवाद के सिद्धान्तों को चरितार्थ करते हैं। इनका क्रमिक इतिहास भी यही प्रकट करता है। इसलिए रचना-नियमों को मापक-रूप से सदा तथा सर्वत्र के लिए स्थिर करना असम्भव ही है। ऐसी दशा में प्रत्येक रचना तथा रचयिता की आलोचना उक्त वैज्ञानिक रूप से ही होनी उचित है।

इस दृष्टि से तुलनात्मक विवेचन, निर्णय, मूल्यनिर्धारण आदि की महत्ता-सत्ता विशेष आलोचन के क्षेत्र से उड़ ही-सी जाती हैं। रचना की रोचकतायें और उनके सम्बन्ध में स्थिर किये गये वे व्यापक वाक्य, जिन्हें वैज्ञानिक आलोचन-शैली प्रस्फुटित करती है, आलोच्य रचयिता के ही साथ उदित, विकसित और नष्ट होते हुए ठहरेंगे, और प्रत्येक रचना तथा प्रत्येक रचयिता की विशेषताओं के स्वतंत्र और पृथक् होने से विविध प्रकार की विशेषताओं और उनके आधार पर कल्पित किये गये व्यापक नियमों का बाहुल्य होकर एक जटिल जाल-सा बन जायेगा। हाँ यह सम्भव है कि उनमें सादृश्य तथा

साम्य (Similarity) के आधार पर उनका एक विशेष रूप से श्रेणी-विभाग कर दिया जा सकता है।

यह कार्य भी कठिन और अनुपयुक्त ही होगा यदि किसी रचना या रचयिता की विशेषताओं के आधार कल्पित किये गये व्यापक नियम किसी अन्य रचना या रचयिता पर घटित किये जायें। क्योंकि वे व्यापक नियमों या सिद्धान्तों के समान मान्य नहीं समझे जा सकते। इसलिए इस पद्धति से रचनाओं और उनसे बननेवाले साहित्य का निर्णय तथा मूल्य-निर्धारण नहीं हो सकता।

दोनों प्रकार की आलोचना-शैलियों में इस प्रकार की न्यूनताओं के देखने पर कुछ विद्वानों का विचार "ऐतिहासिक आलोचन" (Historical method of criticism) को प्रधानता देने की ओर है। इस प्रकार की आलोचना का उद्देश्य आलोच्य वस्तु को यथेष्टरूप से समझने तथा समझाने के साथ ही साथ रचयिता की उस प्रतिभा और उसके उस रूप के प्रकट करने में रहता है, जो वास्तव में उसमें थी और जिस रूप में वह उसके समय की विविध दशाओं और परिस्थितियों के प्रभाव से परिणत हुई थी*। रचयिता के देश-काल तथा उनकी परिस्थितियों* का यथेष्ट ध्यान रखते हुए, उनके उन प्रभावों पर

* देश-काल के अन्तर्गत सामाजिक, राजनैतिक, सांप्रदायिक, धार्मिकादि अवस्थायें या दशायें और अन्य प्रकार की प्रभावोत्पादिनी परिस्थितियाँ भी आती हैं। इन सबके खोजने और देखने के लिए

विचार करके, जो रचयिता पर पड़े थे, उसकी रचना के सम्बन्ध में विचार किया जाता है। ऐसा करते हुए आलोचक को अपने देश-कालादि के प्रभावों को सर्वथा दूर ही रखना पड़ता है, और उनसे अपने को तनिक भी प्रभावित नहीं होने देना पड़ता। उसे यथा स्यात्तथा रूप में ही रचना को देखकर उस पर निर्णय करना पड़ता है, चाहे वह उस आलोचक के देश-कालादि के अनुकूल हो या प्रतिकूल ही क्यों न हो। उसकी रुचि के साथ उसका सामञ्जस्य होता हो या न होता हो, वह उस पर अच्छा या बुरा कैसा ही प्रभाव किसी भी रूप में क्यों न डालती हो। आलोचक के देश-कालादि तथा उनके प्रभावों के साथ आलोच्य रचना का सादृश्य या असादृश्य रखना उसके लिए समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। इन दोनों ही प्रकार के प्रभावों की तुलना करके वह रचना और रचयिता के (उसके देश-कालादि के) सम्बन्ध में बहुत-सी ऐतिहासिक और ज्ञातव्य बातें निकाल सकता है। इसी के साथ ही वह अपनी आलोचना तथा रचयिता के समकालीन

आलोच्य रचना के सभी पटलों (aspects) को स्पष्ट रूप से समझना और समझाना आवश्यक होता है। इस "ऐतिहासिक आलोचना" (Historical Method) के प्रवर्तक फ्रांस के प्रसिद्ध आलोचक St. Beau हैं। फ्रांस से ही आलोचना-शास्त्र का यथाक्रम विकास हुआ है और उसी के आधार पर न्यूनाधिक रूपान्तर के साथ यूरोप के अन्य देशों ने भी अपने यहाँ आलोचना का विकास-प्रकाश किया है। इँगलेंड में भी आलोचन-कला फ्रांस के ही आलोचना-शास्त्र के प्रभाव से प्रभावित हुई है।

किसी अन्य आलोचक की आलोचना का (यदि कोई है) मिलान कर सकता तथा कुछ आवश्यक निर्णय कर सकता है। इस प्रकार की आलोचना में उक्त दोनों प्रकार की आलोचनाओं के मूलतत्त्व न्यूनाधिक रूप में पाये जाते हैं। इसमें केवल कुछ कठिनाई यही पड़ती है कि यह शैली प्रायः भूत-कालीन रचनाओं एवं रचयिताओं की ही आलोचनाओं के लिए अधिक उपयुक्त तथा उपयोगी ठहरती है। वर्तमान समय की रचनाओं की आलोचनाओं के लिए यह रीति विशेष उपादेय नहीं ठहरती। इसमें वैयक्तिक रुचि को भी स्थान दिया जा सकता है तथा नहीं भी दिया जा सकता*।

इस प्रकार के विवाद-ग्रस्त विषय को बहुत विस्तार न देकर यहाँ अब हम यह कह सकते हैं कि वर्तमान समय में हमारे यहाँ पाश्चात्य आलोचना के वैज्ञानिक रूप का प्रभाव-प्रचार बढ़ रहा है और प्राचीन-काल के निर्णयात्मक या मापकीय आलोचना के रूप का प्राधान्य-प्रचार कुछ शिथिल तथा संकीर्ण-सा होता जा रहा है। साहित्य को अब लोग नियमों से नियन्त्रित तथा

---

* किसी आलोच्य रचना का उसी तरह की अन्य रचनाओं (चाहे वे उससे पूर्व की हों या उसकी समकालीन ही हों) के साथ सम्बन्ध दिखलाते हुए उनकी कक्षा में उसका स्थान दिखलाना और साहित्य-क्षेत्र में चली आई हुई रचना-परम्परा के साथ उसका सामञ्जस्य प्रकट कर उसके अनुसार उसका मूल्य निर्धारित करना भी इस प्रकार की आलोचना का एक प्रमुख उद्देश्य या अंग है। फ्रांस के प्रसिद्ध आलोचक Painte Beuve और Mr. Taine इस पद्धति के प्रवर्तक कहे जाते हैं।

सिद्धान्तों से सीमित नहीं रखना चाहते, क्योंकि नियमों और सिद्धान्तों में प्रथम तो मत-भेद और विवाद-ग्रस्त जटिलता है, दूसरे रुचि-पार्थक्य का पूरा प्रभाव प्रतीत होता है। साथ ही साहित्य प्रथम से अब बहुत-कुछ रूपान्तरित या परिवर्तित हो चुका है, उसका आकार-प्रकार सभी नये रूप का हो गया है। अस्तु अब उस पर प्राचीन नियम या सिद्धान्त कदापि घटित नहीं हो सकते, नवीन शैलियों, विचार-धाराओं आदि के उपयुक्त तथा उपादेय वे नियम ठहरते भी नहीं, साथ ही इस परिवर्तित नये युग में उन प्राचीन नियमों के अनुसार रचना-कार्य हो भी नहीं सकता, क्योंकि अब वायु-मंडल ही दूसरा हो गया है, तथा प्राचीन सिद्धान्तों के अनुकूल नहीं रह गया।

नवीन साहित्य की आलोचना के लिए, इसी लिए नवीन वैज्ञानिक पद्धति, जिसमें रचना एवं रचयिता को यथा स्यात्तथा रूप में देखने, समझने और समझाने—(विवेचना या व्याख्या के द्वारा) की प्रधानता तथा विशेष रुचिर रोचकताओं के सम्बन्ध में व्यापक कथन करने का प्राबल्य रहता है, अधिक उपयुक्त और उपादेय समझी जाती है। रचना का वह प्रभाव देखा जाता है जो उसने हम पर डाला है और जिसके डालने में वह समर्थ है—तथा रचयिता के उन प्रभावों पर भी दृष्टि-पात किया जाता है जो उस पर उसके देश-कालादि के द्वारा डाले गये थे, साथ ही जो प्रभाव वह स्वयं अपने पाठकों पर डालना चाहता

है। रचयिता के देश-काल की रुचि एवं विचार-धारा—शैली आदि—को देखते हुए रचयिता की उस रुचि और विचार-धारा पर भी ध्यान दिया जाता है जिसे वह अपनी विशेष रोचकताओं और रुचिर मौलिकताओं के द्वारा उत्पन्न करना चाहता है।

इस शैली की आलोचना के साथ "उक्त अन्य प्रकार की शैलियों का भी सामंजस्य किया जा सकता है। वैज्ञानिक शैलीसे आलोच्य रचना की सांगोपांग विवेचना या व्याख्या करते हुए, उसे याथातथ्य रूप में देखते या समझते तथा दिखाते या समझाते हुए उसकी विशेषताओं और रुचिर रोचकताओं पर प्रकाश डाल कर उनके आधार पर व्यापक नियमों की कल्पना करते हुए, लेखक के चरित्र, रुचि, उद्देश्यादि को देखकर उसके देश-कालादिजन्य प्रभावों के साथ ही उसके अभीष्ट प्रभाव को भी देखा जाता या जा सकता है और तब अपना निर्णय (किसी अन्य लेखक या रचना के साथ उसकी समता या विषमता के दिखाने पर) प्रकट किया जा सकता है, अथवा यह कार्य पाठकों के ही लिए छोड़ा जा सकता है।

तात्पर्य इसका यह हुआ कि इस समय आलोचना में वस्तु की सांगोपांग विवेचना या व्याख्या का ही विशेष प्राधान्य माना है, और वैज्ञानिक शैली को ही महत्त्व दिया जाता है। हाँ अन्य शैलियों का भी उपयुक्त उपयोग किया जाता

है और प्रभाववाद (Impressionism) के साथ ही नवजात विकासवाद को भी दृष्टि में रखना अधिक उपादेय समझा जाता है।

आलोचना-क्षेत्र में भी, अन्य क्षेत्रों की भाँति, रुचि-वैचित्र्य या विचार-पार्थक्य के कारण कतिपय बड़ी जटिल आपत्तियाँ उपस्थित हो जाती हैं। उन्हीं के कारण आलोचक निष्पक्ष और समदर्शी नहीं रह पाता। ऐसी दशा में जब एक ही वस्तु को एक व्यक्ति किसी रूप में और दूसरा किसी दूसरे रूप में देखता, समझता तथा प्रकट करता है, यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि वास्तव में वह वस्तु क्या है, कैसी है और कहाँ तक अच्छी या बुरी है। विचार-वैलक्षण्य होने से मत-भेद और विवाद की उत्पत्ति होती है, जिससे किसी प्रकार का निश्चित और सर्वमान्य व्यापक ज्ञान नहीं हो पाता। इस गूढ़ और जटिल समस्या की उलझन को ही सुलझाने के लिए प्राचीन आचार्यों ने रचना-सिद्धान्ता की कल्पना करके काव्य-शास्त्र का निर्माण किया था और साहित्यिक रचनाओं के तौलने तथा उनके मूल्य निर्धारित करने के लिए मापक-रूप से कुछ ऐसे स्थिर सिद्धान्त निश्चित किये थे, जिनके ही अनुसार रचनाओं की आलोचनायें की जाती थीं और जिनके ही आधार पर निर्णय करके उनके मूल्य और स्थान निर्धारित किये जाते थे। इन्हीं नियमों या सिद्धान्तों के मापकों को लेकर रचयिता लोग स्वयमेव प्रथम अपनी

रचनाओं की परख कर लेते थे और तब जनता के सम्मुख उन्हें उपस्थित कर कला-कसौटो पर आलोचकों के द्वारा कसे जाने तथा उनके मूल्य निर्धारित किये जाने का अवसर देखते थे।

आचार्यों ने रचना-सौंदर्य के सभी सम्भव मार्ग खोजकर स्वाभाविक और मानव-प्रकृत्यनुकूल सिद्धान्तों के आधार पर आवश्यक नियमों की कल्पना मापक के रूपों में करते हुए वैयक्तिक विशेषताओं और मौलिक रोचकताओं के लिए भी पर्याप्त स्थान रख दिया था। किसी रचयिता की नवीन रचना-गत विशेषताओं (चाहे वे भाषा, शैली या प्रकाशन-चातुरी में हों चाहे विचार-धारा या कला में हों) और मौलिक रोचकताओं का—जो उसके समकालीन और पूर्वकालोन किसी भी अन्य रचयिता में नहों प्राप्त होतों तथा जिनके सम्बन्ध में रचना-कला के सिद्धान्त भी मौन से हैं और जो काव्य-शास्त्र या आलोचना-कसौटो की सीमा से भो परे होकर सर्वथा नवीन, मौलिक और स्वतंत्र हैं—निर्णय अधिकारी और सुयोग्य समालोचक की सुविकसित, प्रौढ़ और पटुत्व-प्राप्त प्रतिभा के लिए छोड़ दिया था। इसी लिए काव्यशास्त्र के होते हुए भी रचना की सच्ची परख करने, उन्हें तोलने और उनके मूल्य या स्थान निर्धारित करनेवाले "सहृदय या सरस भावुक विद्वान् ही माने गये हैं। काव्य के तो सच्चे पारखी आचार्य या विद्वान् कवि और गद्य में की गई रचनाओं के तौलनेवाले सहृदय और सुयोग्य लेखक ही कहे गये हैं।

इस प्रकार अच्छे आलोचक को किसी आलोच्य रचना की आलोचना करते समय यह देखना चाहिए कि उस रचना में रचना-कला (काव्यशास्त्रादि) के नियम कहाँ तक किस रूप में कितनी सफलता के साथ चरितार्थ और घटित होते हैं, कहाँ तक वह रचना अन्य आदर्श साहित्यिक रचनाओं के साथ साम्य या सादृश्य रखती है और उसमें कहाँ, कैसी मौलिक विशेषता और नवीन रोचकता पाई जाती है जो उस रचयिता की निजी सम्पत्ति है।

यहाँ यह कह देना भी आवश्यक है कि आलोचक को प्रथम अपनी रुचि और योग्यता को सब प्रकार प्रौढ़, परिपक्व और पटुप्रतिभापूर्ण बना लेना चाहिए। ऐसा करने के लिए उसे अपने समय तक के समस्त सुन्दर साहित्य, साहित्य-शास्त्र (काव्यशास्त्र, रचना-कला आदि) और आलोचन-कलादि का सांगोपांग अध्ययन करते हुए, अपने समय तक की विविध प्रकार के (लेखकों, पाठकों और आलोचकों आदि की) रुचियों, आलोचना-शैलियों, रचना-पद्धतियों* या रीतियों से परिचय

* साहित्य-क्षेत्र में बहुत समय से चली आई हुई किसी विशेष या व्यापक परम्परा का उद्घाटन करना भी आलोचना का एक सामीक्षक अंग है। ऐसा करते हुए किसी आलोच्य-रचना का उस परम्परा से सम्बन्ध दिखलाना भी आवश्यक होता है, ऐसा करने के लिए उस रचना का उसी प्रकार की अन्य रचनाओं के साथ मिलान करना और अपना निर्णय देना भी, जो तुलनात्मक एवं तारतम्यिक

प्राप्त करके समस्त साहित्य के ऐतिहासिक विकास के ज्ञान तथा रचना-कला के स्वानुभव से सहायता लेना और तर्क-पटुता के साथ अपने को निष्पक्ष बनाना चाहिए। सब प्रकार के प्रभावों के प्रतिबिम्ब अपनी आत्मा में रखते हुए भी उनसे प्रभावित न होना चाहिए और आलोच्य-रचना को स्वतन्त्रता के साथ देखना, समझना और विचारना तथा अपना मत प्रकट करना चाहिए।

जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, आलोचकों के पारस्परिक विवादों और मत-भेदों को दूर करने के लिए ही काव्य-शास्त्र

आलोचना का प्रमुख रूप है—प्रायः अति उपादेय और उपयुक्त ठहरता है। तुलनात्मक आलोचना का अर्थ केवल तुलना करना ही नहीं। जिन दो रचनाओं और रचयिताओं में सादृश्यासादृश्य पर्याप्त अंश में हो तुलना उन्हीं में हो सकती है। प्रायः आलोचक केवल तुलना ही को और वह भी उन रचनाओं या रचयिताओं की तुलना को—जिनकी वास्तव में सादृश्याभाव से कदापि किसी भी प्रकार तुलना नहीं हो सकती, तुलनात्मक आलोचना मान बैठते हैं। सच्ची आलोचना में आजकल लेखक और उसकी रचना की विशेषताओं और अन्तर्वृत्तियों या अन्तःप्रकृति के सूक्ष्म गवेषण, विश्लेषण और तदनुकूल स्थिरीकृत मार्मिक विशेष व्यापक नियमों का स्पष्टीकरण ही प्रधान माना जाता है। इन तत्त्वों के बिना आलोचना वास्तव में कुछ भी नहीं मानी जाती। केवल मिलान करके दोष-गुण-कथन, स्थान-निर्णय और मूल्य-निर्धारण, जो निर्णयात्मक आलोचना के मुख्य अंग हैं, रूढ़िगत विवेचन (Conventional Expression) या स्पष्टीकरण-मात्र ठहरता है।

की रचना की गई थी और उसी को अंतिम निर्णायक (Final Court) बनाया गया था, किन्तु ऐसा करने से भी आपत्ति का अन्त न हो सका। आलोचक इसी काव्यशास्त्र को एकमात्र निर्णायक मानने लगे और इसी के नियमों की चरितार्थता प्रत्येक रचना में देखने लगे। रचयिताओं की नवीन मौलिकताओं और रुचिर-रोचक विशेषताओं को, जो देश-काल की परिवर्तित दशा के आधार पर नवोदित हुई थीं, और प्राचीन परिपाटी या रूढ़िगत (Conventional) परम्परा की सीमा से बाहर और स्वतन्त्र थीं, जिन पर काव्यशास्त्र के चिर प्रचलित नियम घटित न हो सकते थे, कुछ भी महत्त्व न देने लगे, वरन् उनकी विगर्हणा तक करने लगे। इसलिए एक दूसरा दल इनके विरोध और नवीनता के समर्थन में फिर उपस्थित हो गया और नवीन मौलिकताओं को महत्त्व देते हुए उन्हीं के आधार पर नवीनता के साथ रचना-सम्बन्धी व्यापक नियम निकालने और प्राचीन नियमों का प्रतिवाद करने लगा। अतएव फिर विवाद खड़ा हो गया।

यथार्थ बात तो यह है कि आलोचकों को किसी रचना की आलोचना करते समय उसमें शास्त्रीय नियमों की चरितार्थता देखने के साथ ही मौलिक और नवीन रुचिर-रोचक-विशेषताओं पर भी दृष्टिपात करना और उन्हें महत्त्व देना चाहिए। किसी ने यदि शास्त्रीय नियमों के बाहर जाकर या उनका उल्लंघन भी करते हुए चिरप्रचलित परम्परा को तोड़ कर भी अपनी

रचना में कुछ मौलिक और सराहनीय विशेषता देश-काल की परिवर्तित दशा को देखते हुए साहित्य और रचना-कला में नव-स्फूर्ति के लाने के विचार से सफलतापूर्वक उपस्थित की है तो यथेष्ट रूप में उसकी महत्ता और सत्ता को स्वीकार करके सराहना करना और इस प्रकार नवीन विशेषताओं के उद्भूत करने के लिए प्रोत्साहन भी देना चाहिए। ऐसा प्रथम हुआ है और शास्त्र-विहित तथा विद्वत्सम्मत भी है। महाकवि भवभूति आदि इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। यह अवश्य है कि कभी कभी आलोचकों ने (जो प्रायः परम्परा से कट्टर पक्षपाती थे) बड़े प्रतिष्ठित कवियों या लेखकों के नियमोल्लंघन को निरंकुशता कहा है, किन्तु यदि वह सफलतापूर्वक और सराहनीय ढंग से हुआ है, तो उसकी प्रशंसा ही की है। "निरंकुशाः कवयः" जैसी उक्तियाँ इसके लिए प्रमाण हैं।

निष्कर्ष यह है कि आलोचक को निर्णयात्मक या मापकीय आलोचना-शैली को लेते हुए विकाशवाद के सिद्धान्त, नवीन विशेषताओं की खोज करनेवाली तथा मौलिकता को चाहने और सराहनेवाली मानवप्रवृत्ति और तज्जन्य साहित्यिक रुचि-वैचित्र्य का भी यथेष्ट ध्यान रखना चाहिए। उसे समझ रखना चाहिए कि प्रत्येक महान् कवि या लेखक मौलिक विशेषता और नवीन रोचक रुचिरता को महत्त्व देता है और उस विशेष प्रकार की रुचि का उत्पादक होता है, जिसको उसने अपनी रचना में सफलता के साथ प्रधानता देकर अपनी रचना के रसास्वादनजन्य सच्चे

आनन्द की प्राप्ति के लिए जागृत करना चाहा है और जिसका जानना उसकी रचना को वास्तव में समझने और सराहने के लिए आवश्यक है, इस प्रकार वह अपनी रचना के निर्णय करने तथा उसका मूल्य निर्धारित करने के लिए स्वतः अपने एक विशेष मापक (Standard) की स्थापना करता है और काव्य-शास्त्र तथा रचना-कला में भी नवीनता को वृद्धि कराता है।

कुछ ही समय से योरुप के एक नवीन आलोचक-संप्रदाय (School of critics) की आलोचन-पद्धति से प्रभावित होकर कुछ लोग यहाँ भी उस पद्धति की नक़ल करने लगे हैं। इसके अनुसार अभिव्यंजन (Ezpression) ही आलोचना का सार तत्त्व है।* किसी भी आलोच्य रचना में अभिव्यंजना ही

* कभी कभी रचयिता केवल अपनी अंतरात्मा (अन्तःकरण) की ही प्रेरणा से अपने भावों, अपनी भावनाओं (Idaes and feeling) तथा कल्पनाओं (Imaginary thoughts) को जिस रूप में वे उसके हृदय में उठती हैं, उसी रूप में भाषा के द्वारा व्यक्त कर देना चाहता है, इसके अतिरिक्त उसका और कोई भी उद्देश्य नहीं रहता, और रचना उसकी आत्माभिव्यंजना (Self expression) के ही रूप में रहती है। उसमें न तो विशेष कला-कौशल ही रहता है और न किसी दूसरे प्रकार की कृत्रिमता ही रह पाती है। आत्म-प्रकाशन के अतिरिक्त रचना में और किसी भी उद्देश्य की पूर्त्ति का विचार नहीं रहता। यह ठीक उस रचना का विलोम है जिसमें किसी विशेष उद्देश्य की प्रधानता रहती है और उसी की पूर्त्ति के लिए वह रचना रची जाती है। प्रथम में रचना स्वतः अपना उद्देश्य बनती है और दूसरों में वह किसी उद्देश्य की साधनरूपा-सी होती है।

देखना चाहिए, यही वास्तव में कला है। यदि इसमें अनूठापन या वैचित्र्य है तो रचना सराहनीय है। कोई भा बात या कोई भी भाव कितना ही रुचिर और रोचक क्यों न हो, वह तब तक प्रभावपूर्ण, समाकर्षक और सुखद नहीं प्रतीत होता जब तक वह विचित्रता के साथ चारुचमत्कृत भाषा तथा चातुर्यमाधुर्यपूर्ण शैली या रीति से व्यंजित या व्यक्त नहीं किया गया। रचना वस्तु की रुचिरता, रोचकता तथा प्रियता सर्वथा समाधारित है उसके अभिव्यंजन या प्रकट करने के ढंग पर। इसलिए रचना में प्रथम भाषा और भावाभिव्यंजन रीति पर ही विचार करना चाहिए। दोनों का प्राण है वैचित्र्य, वैलक्षण्य या वक्रता। इस विचार को हमारे काव्यशास्त्रकारों (विशेषतया वक्रोक्ति जीवितकार) ने प्रथम ही उठाया था और वक्रोक्ति या वाग्वैचित्र्य को ही काव्य की आत्मा कहा था। अस्तु हमारे लिए तो यह "अभिव्यंजनवाद" (Expressionism) कोई नया सिद्धान्त नहीं, हाँ योरुपवालों के लिए यह अवश्यमेव नया है। योरुप में इसके प्रवर्तक इटली के प्रसिद्ध आलोचक Benedetto Croce माने जाते हैं।

आजकल योरुप में जिस प्रकार फ़ैशन में नित नये परिवर्तन का नर्तन होता रहता है उसी प्रकार वहाँ के साहित्य-क्षेत्र में भी इधर-उधर की कच्ची-पक्की बातों को लेकर उन्हें चमत्कृत शब्दाडम्बर के परिधान देते हुए कुछ नई तड़क-भड़कदार शैली से केवल कुतूहल उत्पन्न कराने के लिए लोग कला-कौतुक

किया करते हैं। यहाँ भी नवयुवकों के द्वारा उनकी ही अनुकृति-परंपरा के चलाने का प्रयत्न होने लगता है। प्रायः इधर की ऐसी आलोचनाओं में न तो रचना की विशेषताओं पर ही विवेचनात्मक प्रकाश डाला जाता है और न रचयिता की अन्तर्वृत्तियों की ही विश्लेषणात्मक व्याख्या की जाती है, केवल विशद कुतूहलकारी वाग्जाल के द्वारा निरर्थक कला-कौतुक-सा किया जाता है और इसी को साहित्य-समीक्षा समझा जाता है। कभी कभी लोग इधर-उधर के कुछ वाक्य लेकर उन्हीं को रचना के सार-सिद्धान्त मान लेते और उन्हीं के आधार पर आलोचनायें करने लगते हैं—इसी प्रकार "सत्यं, शिवं सुन्दरं" को, जो वास्तव में (the true, the god and the beautiful) का अनुवादमात्र है और देवेन्द्रनाथ ठाकुर के द्वारा बँगलाभाषा में प्रचलित किया गया था, लेकर लोग काव्य की कसौटी के रूप में प्रयुक्त करते हैं।

कुछ समय तक योरुप में रचना-सौंदर्य का आधार शैली या अभिव्यंजन-रीति ही को माना जाता रहा और आलोचना में भी इसे प्रधानता दी जाती रही। रीतिवादी सम्प्रदाय उस शैली को ही रचना की आत्मा समझता है जिसके प्रभाव से भाषा अपने साधारण तथा व्यापक प्रयोग से उठकर विशेष विचित्र तथा असाधारण होती हुई समाकर्षक हो जाती है। इसी शैली में, जैसा इस सिद्धान्त के प्रमुख प्रवर्तक महाशय लांगिन्स का कथन है, रचना तथा रचयिता की

प्रकृति, अन्तरात्मा और उसका व्यक्तित्व देखा जाता है, और शैली ही वास्तव में मनुष्य है (Style is the man) कहा जाता है। रीति या शैली से रचना को जो उत्कर्ष प्राप्त होता है उसके अन्दर भाव-भावनाओं एवं कल्पनाओं की महानता, रसों का आवेग (मनोविकारों या रागों का चैतन्य प्रवाह) उपयुक्त और स्पष्ट अभिव्यंजन की वास्तविक क्षमता या योग्यता निहित है। इन्हीं की मार्मिक गवेषणा से सुरचना के विविध नियमों की उत्पत्ति होती है और इन्हीं पर प्रतिभा तथा सुरुचि भी, जो रचना और आलोचना दोनों ही की आत्मा है, सर्वथा समाधारित रहती हैं।

यद्यपि प्रतिभा को नियमों से बाँधा नहीं जा सकता, वह अपने नियम आप ही बना सकती है, तथापि रचना-क्षेत्र में साम्य, और मनोरम एकता (Harmony) लाने के लिए—जो सर्वथा अनिवार्य या आवश्यक है, नियमों की आवश्यकता पड़ती है और वे उपयुक्त तथा उपयोगी ठहरते हैं। यद्यपि प्रतिभा ईश्वरदत्त गुण है तथापि उसका उत्तम उपयोग नियमों की ही नियंत्रणा के द्वारा किया जा सकता है। इस प्रकार यह सिद्धान्त रचना-रीति को प्राधान्य देकर नियमों के भी महत्त्व को मानता है। हमारे यहाँ भी इस सिद्धान्त का सारतत्त्व रीतिवादी सम्प्रदाय में पाया जाता है। रीति ही को काव्य की आत्मा मानकर उसका लक्षण पदों की विशिष्ट रचना करने को ही माना है (रीतिरात्मा काव्यस्य, विशिष्टा

पदरचना-रीतिः)। योरुप में यह मत उठा तो अवश्य परन्तु यहाँ की भाँति व्यापक और सर्वमान्य होकर प्रचलित न हो सका और थोड़े ही दिनों में लुप्त हो गया। इस सिद्धान्त के अतिरिक्त एक दूसरा सिद्धान्त ऐसा भी है जिसमें भाषा और उसकी विशेष रीति या शैली को इस रूप से प्राधान्य नहीं दिया जाता। इसे भी हम स्थूल रूप से "अभिव्यंजनवाद" कह सकते हैं, किन्तु यह अपनी कुछ स्वतन्त्र विशेषता रखता है।

इस विशिष्ट अभिव्यंजनवाद (Special Expressionism), के अनुसार रचना में उसी भाषा और शैली का उपयोग होना चाहिए जिसका प्रयोग साधारणतया व्यापक रूप से होता है, हाँ शैली के प्रयोग में कुछ विशेषता कर दी जानी चाहिए। वास्तव में जो भाषा लेखक के मुख्य उद्देश्य या कार्य को यथेष्टरूप से सिद्ध करती है वही उसकी भाषा है, और वही साहित्य की भी भाषा होती है क्योंकि रचनाओं से ही साहित्य बनता है। भाषा को सर्वथा स्वाभाविक, भावों को यथार्थता के साथ व्यक्त करनेवाली, स्पष्ट और सुव्यवस्थित रहना चाहिए। इस विचार से ही मिलता-जुलता हमारे यहाँ का वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार काव्य-सौंदर्य के मूलतत्त्व या आत्मा को "स्वभावोक्ति" के रूप में माना गया है। लेखक को भाषा और शैली के प्रयोग करने में पूरी स्वतन्त्रता रहनी चाहिए। अपनी रचना के अनुकूल वह

जैसी भी भाषा और शैली उपयुक्त समझे प्रयुक्त करे। इन्हें नियमों से नियन्त्रित और बद्ध करना ठीक नहीं। इस सिद्धान्त के अनुसार रचना का निर्णय वास्तव में भाषा और शैली के ही निर्णय पर आधारित रहता है क्योंकि यथार्थतः भाव, भावना, कल्पना, अन्तर्वृत्ति, बाह्यप्रकृति आदि सबका प्रकाश एवं विकाश भाषा और शैली या रीति के ही ऊपर स्थिर है, बिना इन दोनों के कुछ भी प्रकट नहीं किया जा सकता। भावादि कितने ही सुन्दर, स्तुत्य तथा उपयोगी क्यों न हों वे तभी सफल और प्रभावोत्पादक हो सकते हैं जब वे उपयुक्त भाषा में समाकर्षक ढंग से अनुवादित या व्यक्त किये गये हों। अस्तु, किसी रचना का महत्त्व उसकी भाषा और शैली के ही महत्त्व पर सर्वथा समाधारित रहता है।

सौष्ठववाद (Romanticism)—यदि विचार-पूर्वक देखा जाये तो पाश्चात्य देशों में आजकल इसका ही प्राबल्य और प्राधान्य जान पड़ता है। इसका प्रभाव हमारे आधुनिक साहित्य और आलोचन-पद्धति पर भी बहुत गहरा पड़ा है। रचयिता को भाषा तथा शैली के प्रयोग में स्वतन्त्रता देने से ही इसका एक प्रकार से उदय हुआ है, किन्तु अब इसका बहुत विशद और व्यापक विकास हो गया है। इसके अनुसार अब रचना में न केवल उन अनुभवों पर ही विचार करना चाहिए, जिन्हें रचयिता ने अनुभवित करके अपनी भाषा के द्वारा दूसरों के लिए प्रकाशित कर

दिया है, वरन् इन्हीं के साथ ही अनुभूत संसार या पदार्थ (विषय), जिनका अनुभव रचयिता ने किया है और जिनसे वह प्रभावित हुआ है, और अनुभव करनेवाले लेखक की ओर भी दृष्टिपात करना तथा इन सबके रुचिर, रोचक और प्रभावोत्पादक या समाकर्षक मर्मों या विशेष रहस्यों की छान-बीन करनी चाहिए। रचना में जीवन तथा प्रकृति के आन्तरिक और बाह्य दोनों पटलों का चित्रण देखना चाहिए तथा इनके भी सौष्ठव (Sublimity) या उत्कर्ष की गवेषणा तथा विवेचना करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस सौष्ठव के अन्दर कल्पनाओं और भावनाओं या मनोवेगों (Imagination, feelings and emotions) के सुन्दर रूपों और सौंदर्यानन्द की अनुभूति-व्यंजनाओं के प्रभावों की सारी समष्टि आ जाती है।

कोमलता या मार्दव (Delicacy), स्निग्धता अथवा मसृणता (Smoothness) ललित लावण्य तथा सरस कान्ति (Grace) सुन्दर, सुखद भाव-भावनाओं की मार्मिक अनुभूति और माधुर्यपूर्ण मंजुलता आदि सभी गुण इस सौष्ठव के अङ्ग कहे जाते हैं। कुछ विद्वान् तो इसे कला के कौशल में और कुछ केवल वास्तविक प्रकृति-चित्रण में ही मानते हैं। कुछ के मत से सौष्ठव वह है जो रागात्मक (Emotional) और काल्पनिक प्रभावों से हमें आश्चर्यान्वित कर अपनी ओर बलात् आकृष्ट कर लेता है। भाव, भाषा और शैली सभी के वैचित्र्य

से इसका सम्बन्ध है। आलोच्य रचना से इसी सौष्ठव का खोज निकालना तथा इसी का स्पष्ट विवेचन करना सफल आलोचक का काम है। यही सौष्ठववाद का मार्मिक सिद्धान्त है।

यह सौष्ठववाद (Romanticism) अन्तः प्रकृति या अन्त-र्वृत्ति (आन्तरिक जीवन या सृष्टि) के चित्रण तथा इनकी व्याख्या को ही प्रधान मानता है, और बाह्य प्रकृति आदि को गौण रूप में स्वीकार करता है, इसके साथ ही रसात्मिकता (Sentimentalism) को ही रचना की आत्मा समझता है। इस प्रकार इसका सम्बन्ध या आधार हमारे यहाँ के "रसात्मकं वाक्यं काव्यम्" तथा "रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" वाले सिद्धान्तों के सामंजस्य पर स्थिर जान पड़ता है। रुचिर और रोचक रूप से रचना में रागात्मिकता का होना ही उसकी सफलता है।

इसके अनुसार भावों में एक ऐसी अतीतता एवं अनन्तता (Boundlessness) के साथ ही गूढ़ता या गंभीरता (Obscurity) और विचित्र अनिश्चितता (Infinitude) होनी चाहिए जिसके कारण हमारी आन्तरिक मानसिक शक्तियाँ कल्पना के द्वारा बाह्यजगत् की वास्तविकताओं को छोड़कर भी, विकाश को प्राप्त हो सकें और उनमें एक विशेष प्रकार की सुखद स्फूर्ति और चेतनता (जागृति) आसके, और मानव-मन उससे सौंदर्यानन्द का सच्चा अनुभव कर सके।

इसी सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति किसी रचना के समझने और समझाने में (अपनी इच्छा या रुचि के अनुकूल) सर्वथा स्वतंत्र है। वह उसे जैसा चाहे समझ और समझा सकता है, हाँ उसे ऐसा करते हुए औचित्य, वास्तविकता तथा उपयोगिता का पूरा ध्यान रखना चाहिए। उसे अपनी योग्यता को भी खूब देख और परख लेना चाहिए। प्रत्येक रचना और रचयिता के समझने और समझाने के लिए विशेष प्रकार की योग्यता, क्षमता तथा उपयुक्तता होती है। बिना उपयुक्त योग्यता के रचनायें समझी ही नहीं जा सकतीं। अस्तु, प्रत्येक आलोचक को उचित है कि वह अपने को किसी रचना के समझने और समझाने के पूर्ण योग्य बना ले, और अपने को उस रचना के रचयिता की ही श्रेणी का एक व्यक्ति-सा कर ले, तभी वह उसे ठीक ठीक समझ और समझा सकेगा अन्यथा नहीं। अपने मन, मस्तिष्क, स्वभाव, अपनी रुचि, प्रवृत्ति आदि सभी बातों को ठीक उसी दशा में रख ले जिस दशा में वे रचयिता में थीं, तभी वह सच्ची सहानुभूति के साथ उसकी रचना को अवगत कर सकेगा।

इस सिद्धान्त के क्षेत्र में कला के नियमों का इसलिए कुछ भी मूल्य नहीं माना जाता चूँकि वे कला-कौशल के साधनों की प्रकृति का विधान बनाते हैं और रचना के आंतरिक तत्त्वों के निर्णय करने में सहायक नहीं होते। यदि इस मत के अनुसार आलोचना की जावे तो वह केवल

व्यक्तिगत (Individual) ही ठहरती है क्योंकि यह मत आलोचक को आलोच्य रचना के अपने रूप से समझने और समझाने तथा उसकी श्लाघा करने में पूर्ण स्वतंत्रता दे देता है। इस प्रकार की स्वतंत्रता में यह भय रहता है कि आलोचक को अपने उस उत्तरदायित्व की उपेक्षा करने का प्रोत्साहन प्राप्त होता है जो उसके लिए अनिवार्य है और जिसकी उससे समस्त पाठक-समाज आशा करता है। उसकी आलोचना की ज़िम्मेदारी उसके ऊपर इसलिए नहीं रहती चूँकि वह किसी सर्वमान्य विधान से बाध्य नहीं होता, और कह सकता है कि मैं जैसा इस रचना का अनुभव करता हूँ, वैसा ही प्रकट करता हूँ और यही मेरा व्यक्तिगत अनुभव या विचार है, मुझे इससे कोई भी मतलब नहीं कि दूसरे इसे कैसा समझते तथा अनुभवित करते हैं। अस्तु ऐसी दशा में आलोचक के लिए कोई नियम ही नहीं रह जाता।

इस कठिनाई के दूर करने का प्रयत्न कुछ विद्वानों ने—जैसे महाशय मैंज़नी आदि ने—किया है और यह विधान बनाया है कि आलोचक के लिए वे नियम, जिनके आधार पर वह अपनी आलोच्य रचना का निरीक्षण और निर्णय करेगा, उसी आलोच्य रचना के अन्दर प्राप्त होंगे, उसे उन नियमों को खोज कर अपने लिए निकाल लेना चाहिए। प्राय: इस प्रकार के प्रश्नों से इन नियमों की प्राप्ति होती

है—१—रचयिता का रचना करने में क्या विचार या उद्देश्य था, किस इरादे से उसने यह रचना की है, २—और उसका वह विचार, उद्देश्य या इरादा सर्वथा न्याय-संगत, उपयुक्त और उपादेय है या नहीं, यदि है तो कहाँ तक और किस रूप में, ३—उसने अपने उद्देश्य का सफलता-पूर्वक निर्वाह किया है या नहीं, इसके लिए उसे उसके मंतव्य की छान-बीन करते हुए उसके मूल्य का भी निर्णय करना चाहिए तथा उसकी विशेषतायें देखनी चाहिए। यद्यपि ऐसे विधान के बनाने से सौष्ठववाद के सिद्धान्त को कुछ आघात-सा अवश्य पहुँचता है, तथापि है यह उपयुक्त ही। इस व्यवस्था पर कुछ विद्वानों ने आपत्तियाँ भी उठाई हैं और कहा है कि रचयिता का मंतव्य या उद्देश्य—चूँकि वह उसकी स्पष्ट विज्ञप्ति तो देता ही नहीं और यदि दे भी तो वह सर्वथा मान्य नहीं होती—निश्चित रूप से जाना ही नहीं जा सकता, केवल उसका अनुमान ही किया जा सकता है, वह सर्वथा सत्य और सम्भव न होकर केवल सम्भावना की निकटवर्ती सूचना ही-सी हो सकती है। रचना के प्रभाव से ही कुछ अनुमान उसके सम्बन्ध में किया जा सकता है, किन्तु यह प्रभाव सब पर समान रूप से नहीं पड़ता।

हाँ यदि उद्देश्य सफलता के साथ प्रकट किया गया है तो अवश्य ज्ञात हो जाता है। किन्तु इस प्रकार उक्त द्वितीय प्रश्न व्यर्थ ही-सा हो जाता है। अब केवल विशेषताओं का प्रश्न रह जाता है, इसके लिए उनकी व्यापक प्रकृति, तथा उनका मूल

कर्तव्य देखना पड़ेगा और ऐसा करने में रचना-सिद्धान्तों की सहायता अनिवार्य होगी और आलोचना में सिद्धान्तवाद एवं मापकवाद की प्रधानता हो जायेगी, अतः यह भी ठीक न होगा।

अस्तु, सौष्ठववाद के अनुसार रचना का निर्णय नियमों के आधार पर तो किया जाना चाहिए, किन्तु उन्हीं नियमों के आधार पर जो रचना की विशेष रुचिर रोचकताओं की अन्तर्सृष्टि से कला-कौशल की मूल प्रकृति के रूप में निकाले गये हों और किसी बाहरी विशेषज्ञ के द्वारा न रचे गये हों। अतएव इस प्रकार रचना की ही योग्यता तथा क्षमता के आधार पर निर्णय को निश्चित करना चाहिए। रचना में रचयिता के मन (हृदय) और मस्तिष्क दोनों के रहस्यों या मर्मों की छान-बोन एवं गवेषणा करते हुए उसके प्रभावों को पूरी स्वतंत्रता के साथ देखकर अपना मत निर्धारित करना ही इस वाद का मूल मर्म है। अब तक इस सिद्धान्त की निश्चित रूप से व्याख्या और विवेचना नहीं की जा सकी, इसमें मत-भेद भी पाया जाता है, इसी लिए इसका विधान सर्वथा स्पष्ट और स्वच्छ नहीं है।"

इस सिद्धान्त के विरोध में एक दूसरा सिद्धान्त वह है, जिसे यथार्थवाद (Realism) कहा जाता है। इसके अनुसार रचना में बाह्य प्रकृति, सृष्टि, और उसके पदार्थों का ही प्राधान्य होना चाहिए—सृष्टि के चित्रण में पूरी

स्वाभाविकता, सत्यता तथा स्पष्टता होनी चाहिए, प्रकृति का निरूपण यथा स्यात् तथैव रूप में ही होना चाहिए तथा जीवन की (जैसा वह यथार्थ में पाया जाता है) वास्तविक व्याख्या की जानी चाहिए। वास्तविकता ही रचना-सौष्ठव का एक-मात्र मापक (Standard or criteria) है।

यह सिद्धान्त उठाया तो गया है किन्तु सौष्ठववाद के सामने इसे अभी तक न तो विशेष प्राधान्य ही प्राप्त हो सका है और न प्राबल्य ही। वर्तमान समय में व्यापकरूप से आलोचनाक्षेत्र में सौष्ठववाद (Romanticism) को ही प्रधानता दी जाती है, और रचना की उत्कृष्टता की परख सौष्ठव (कला-सम्बन्धी तथा अन्तर्प्रकृति-सम्बन्धी) (sublimity in art and nature) के ही आधार पर की जाती है। इसलिए यही आशा की जा सकती है कि अभी इसी सिद्धान्त के आधार पर आगे आलोचना का विकाश और प्रकाश होगा।

—

आलोचना का निरीक्षण

किसी आलोचक की लिखी हुई आलोचना में सबसे प्रथम हमें यह देखना चाहिए कि आलोचना लिखने में उसका व्यापक भाव या विचार कैसा रहा है। या तो वह अपनी आलोच्य-वस्तु को सद्भाव और सुरुचि के साथ वास्तव में समझने-समझाने, और उस पर न्यायानुकूल निर्णय करने की इच्छा से देखता है और उसकी विशेषताओं तथा रुचिर रोचकताओं को यथार्थता से देखता और दिखाता हुआ उनके मार्मिक तत्त्वों पर प्रकाश डालना चाहता है अथवा उस रचना-वस्तु के द्वारा अपनी विद्वत्ता और चतुरता प्रकट करने का प्रयत्न करता है।

आलोच्य रचयिता तथा उसकी रचना के साथ वह कहाँ तक सहानुभूति रखता तथा विचारपूर्वक उसमें अच्छाइयों या गुणों के देखने-दिखाने की इच्छा रखता है। अथवा कहाँ तक ईर्ष्या-द्वेषादि की प्रेरणा से उसमें केवल छिद्रान्वेषण और दोष-प्रदर्शन करने का ही प्रयत्न करता है। वास्तव में सत्समालोचक को गुण-प्रदर्शन करना ही उचित है, हाँ जहाँ कहीं किसी रचना में अत्यंत अनीप्सित और हानिकारक दोष आ

गये हों वहाँ उन दोषों पर सूक्ष्म प्रकाश डालते हुए उनके निराकरण या परिहार की ओर भी संकेत कर देना ठीक है। सर्वत्र उसकी भाषा तथा कहने के ढंग में शिष्टता, सद्भावना, सुरुचि और प्रियता का रहना अनिवार्य है। प्रायः आजकल आलोचक अपने इस कर्तव्य का यथार्थ परिपालन नहीं करते।

हमें आलोचक के व्यक्तित्व (साथ ही उसकी योग्यता, तैयारी आदि) का भी ध्यान रखना चाहिए और देखना चाहिए कि कहाँ तक उसकी आलोचना पर उसका प्रभाव पड़ा है। उसकी निष्पक्षता तथा सतर्कता की भी उपेक्षा करना ठीक नहीं। सबसे आवश्यक तो उसके निर्णयों के आधारभूत सिद्धान्तों तथा मापकों का विचार करना है।

कभी कभी आलोचक को कठोरता के साथ भी आलोचन-कार्य करना उपयुक्त और उपादेय होता है, किन्तु केवल तभी जब वह कोई ऐसी रचना देखता है जिससे जनता (देश-समाज) का केवल अहित होना ही सम्भव जान पड़ता है और जब रचना में रचयिता स्पष्टरूप से उच्छृङ्खल और उद्दंड होकर बिना अपने उत्तरदायित्व और कर्तव्य का ध्यान रखते हुए अनर्गल और अनिष्टकारी प्रलाप सा करके रचना-कला और पाठक-समाज को दूषित और कलुषित करता हुआ जान पड़ता है। आलोचना के ऐसे स्थलों को हमें सतर्क देखना चाहिए।

प्रत्येक आलोचना के पूर्व या पश्चात्, जैसा उपयुक्त जान पड़े हमें उस रचना का भी सांगोपांग अवलोकन करना

चाहिए, जिस पर वह आलोचना लिखी गई है और तब आलोचना की बातों की तथ्यता पर विचार कर उस आलोचना और रचना के सम्बन्ध में अपना मत निश्चित या स्थिर करना चाहिए। यदि उसी रचना पर कई आलोचकों ने आलोचनाएँ लिखी हैं तो जितनी भी उनमें से सुलभ और प्राप्त हों, लेकर तुलनात्मक ढंग से उन्हें देखना और उनके साम्य एवं वैषम्य पर विचार करना चाहिए। इस प्रकार के तुलनात्मक अवलोकन से आलोचकों की व्यक्तिगत विशेषतायें, आलोचना-शैलियाँ, सिद्धान्त, भाव, भाषा, लेखन-शैली और रुचि आदि का भी ज्ञान हो सकेगा और आलोचनाओं का भी आलोचनात्मक मूल्य निर्धारित किया जा सकेगा।

आलोचकों के सिद्धान्तों आदि में साम्य एवं वैषम्य-सम्बन्धो बातों की तुलनात्मक व्याख्या से आलोचकों के देश-काल आदि की व्यापक परिपाटियों, विचार-धाराओं, रुचियों तथा नीति-रीतियों का भी परिचय प्राप्त हो सकता है, चाहे आलोचक एकदेशीय या समकालीन हों या भिन्न भिन्न देशों और समयों के हों। प्राय: आलोचनाओं में जो वैषम्य पाया जाता है उसका कारण न केवल व्यक्तित्व-सम्बन्धी रुचि-पार्थक्य ही है, वरन् समाज-साहित्य और समय की विभिन्न लोक-रुचि, संस्कृति आदि का पार्थक्य भो है।

आलोचकों में वैषम्य के अतिरिक्त मूलत: कुछ व्यापक साम्य भी पाया जाता है, इसी के आधार पर व्यापक

लोक-रुचि और समय-सम्मानित विचार-धारा आदि की विशेषताओं का भी ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। अतएव कह सकते हैं कि आलोचना में केवल व्यक्तित्व का ही प्रतिबिम्ब प्राधान्य एवं प्राबल्य के साथ नहीं रहता, वह केवल इसकी ही सूचना नहीं देती वरन् समय-समाज, साहित्य और संस्कृति आदि का भी प्रतिबिम्ब रहता है और इनकी विशेषताओं के साथ ही वह लोक-रुचि को भी सूचित करती है। ऐसी दशा में आलोचना के इतिहास का भी अध्ययन साहित्य के इतिहासाध्ययन के साथ उपयुक्त और उपादेय ठहरता है। आलोचना के इतिहास से आलोचना की भाषा, शैली तथा उसके सिद्धान्तों (रीतियों-नीतियों) आदि के रूपान्तरों का भी यथेष्ट परिचय प्राप्त होता है जो साहित्य एवं उसके इतिहास के अध्ययन का समीचीन सहायक ठहरता है। इसके साथ ही दोनों के साथ साथ अध्ययन से साहित्य-रचना, उसके विविध उद्देश्यों, सिद्धान्तों (रीतियों-नीतियों), वर्णनीय तथा त्यागनीय बातों, वस्तुओं आदि का भी यथेष्ट परिचय प्राप्त हो सकता है जिससे अध्ययन में सफलता और पूर्णता आ सकती है।

आलोचना की सीमा और मर्यादा

यहाँ आलोचना की सीमा से यह तात्पर्य नहीं कि आलोचना का आकार-विस्तार कितना हो, वह कितने पृष्ठों में पूरी हो या कितनी लम्बी-चौड़ी हो, वरन् इससे तात्पर्य

यह है कि आलोचना का भाव-क्षेत्र कितना हो। इसके लिए यद्यपि कोई निश्चित और स्थिर नियम नहीं निर्धारित किये जा सकते तथापि संकेत-रूप में कुछ अवश्यमेव कहा जा सकता है। आलोचना को, जहाँ तक हो सके, आलोच्य-वस्तु या रचना-विषय से दूर न जाना चाहिए। उसे उसी के क्षेत्रान्तर्गत ही रखने का प्रयत्न करना चाहिए। आलोच्य रचना के विचारांगण में ही आलोचक को घूमघूम कर उसकी विशेषतायें देखनी और आलोचना में दिखानी चाहिए। उसी के प्रत्येक रुचिर-रोचक और मार्मिक विचार या रहस्यपूर्ण गूढ़ भाव की यथेष्ट गवेषणा करते हुए यथोचित रूप से विवेचना या व्याख्या करके अपना मत प्रकट करना चाहिए। आलोच्य रचना को यथा स्यात् तथा रूप में ही देखने-दिखाने या समझने-समझाने का प्रयत्न आलोचना में विशेष रूप से करना चाहिए।

किन्तु यदि तुलनात्मक रूप से आलोच्य रचना पर दृष्टिपात किया जा रहा है तो आलोचक समस्त प्राचीन और नवीन रचना-संसार में घूम कर आलोच्य रचना से सादृश्य और साम्य रखनेवाली अन्य रचनाओं, उनके भावों एवं भावनाओं (कल्पनाओं) को प्रस्तुत रचना की भावावलि के साथ उठाकर दोनों में सामंजस्य या साम्य दिखलाने तथा उनमें से किसी में न्यूनाधिक्य या वैचित्र्यादि के प्रकट करने और दोनों की यों तुलना करके उनके वास्तविक मूल्य के निर्धारित करने

के लिए बाहरी बातों को भी अपनी आलोचना में स्थान दे सकता और अपनी आलोचना के हृदय और कलेवर दोनों को बढ़ा सकता है, फिर भी ऐसा करते हुए उसे एक विशिष्ट मर्यादा के ही अन्दर रहना चाहिए।

ऐसे ही ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक तथा अन्य प्रकार की आलोचना-शैलियों के अनुसार भी किसी रचना की आलोचना करते हुए, आलोचक यथोचित रूप से अपनी आलोचना को सीमित और मर्यादित रख सकता है तथा उसे रखना ही चाहिए। आलोचना के विस्तार की सीमा बाँधने के लिए मूलतः उसे इस बात का सर्वथा ध्यान रखना चाहिए कि रचना पर आलोचना के द्वारा पूर्ण और यथेष्ट प्रकाश पड़ रहा है या नहीं। जैसी आलोचना अभीष्ट है वैसी ही आलोचना हो रही है अथवा नहीं। साथ ही उसे इसका भी पूर्ण ध्यान रखना चाहिए कि आलोचना में व्यर्थ का शब्दाडम्बर, वाग्जाल और वितंडावाद न आने पावे। उसका कोई भी शब्द, पद या वाक्य अनावश्यक और निरर्थक न हो, और इसलिए वह पाठकों के द्वारा छोड़ा न जा सके अथवा उपेक्षा की दृष्टि से न देखा जा सके। बहुधा यह दोष साधारण आलोचकों की ही आलोचनाओं में देखा जाता है।

आलोचक को आलोच्य रचना-वस्तु के अंग-प्रत्यंग की विवेचना या व्याख्या करते हुए, केवल अपने पांडित्य के ही प्रदर्शनार्थ, आलोचना को इतना अधिक न बढ़ा देना चाहिए

कि पाठक उस व्याख्या-विस्तार के ओतप्रोत या जटिल जाल में पड़ कर उलझ से रहें और ऊब उठें अथवा मूल आलोचना की वास्तविक विचार-धारा या तर्क-शृंखला को ही भूल बैठें और उसे स्पष्ट करने के लिए उन्हें फिर पीछे लौटकर दुबारा पढ़ने और मनन करने की आवश्यकता पड़े। व्याख्या और विवेचना केवल उतनी ही उपयुक्त ठहरती है जितनी से उस वस्तु या विषय का, जिसकी व्याख्या की जा रही है, यथेष्ट परिचय प्राप्त हो जाये, वह स्पष्ट और सुबोध होकर समझ में सरलता से आ सके। प्राय: यह देखा जाता है कि साधारण आलोचक व्याख्या और विवेचना तो नहीं करते या जैसी हो तैसी करते हैं, वरन् या तो व्यर्थ का कुत्सित प्रलाप (निन्दा-वाद, व्यक्तिगत आक्षेप, जो दुर्भावना से प्रेरित जान पड़ता है और इसी लिए अनीप्सित तथा घृणित कहा जाता है) करते रहते हैं या अनावश्यक और व्यर्थ के प्रशंसासूचक शब्दों की झड़ी सी बाँधते रह जाते हैं और "मुशायरों की महफ़िली दाद" सी देने में लग जाते हैं। यह न तो विवेचना ही है और न निर्णय ही। कभी कभी कुछ लोग आलोचना में पंडित-मानी से होकर खटकनेवाले शब्दों और ढंगों से यशार्जन के लोभ का संवरण न कर सकने के कारण पांडित्य के स्थान पर "चांडित्य" भी दिखाने लगते हैं।

सूक्ष्मतया अब कह सकते हैं कि आलोचना लिखने से पूर्व प्रत्येक आलोचक को अपनी आलोचना का यथोचित मानचित्र

या ढाँचा तैयार करते हुए उसे विभिन्न भागों में विभक्त कर लेना चाहिए, उसे प्रमुख तथा गौण अथवा मुख्य शीर्षकों और उपशीर्षकों के द्वारा बाँट देना चाहिए। यद्यपि इस मानचित्र के अंकित करने के लिए भी निश्चित नियम नहीं दिये जा सकते, तो भी स्थूल रूप से केवल अभ्यासार्थियों के लिए यह कहा जा सकता है कि आलोचना को मुख्यतया ३ भागों में विभक्त करना चाहिए—प्रथम भाग होगा भूमिका—जिसके अन्दर आलोच्य रचना का संक्षिप्त किन्तु यथेष्ट परिचय, अपनी आलोचना-सम्बन्धी नीति-रीति की स्पष्ट सूचना, रचना-वस्तु के आलोचनीय एवं अवलोकनीय अंगों-प्रत्यंगों का विश्लेषण, और ऐसी ही अन्य आवश्यक बातों की विज्ञप्ति, जिन्हें आलोचक उपयुक्त समझता है, रखना चाहिए। दूसरा भाग होगा—आलोचना-कलेवर—भूमिका में सूचित की गई आलोचना की नीति-रीति के आधार पर आलोच्य रचना-वस्तु की यथेष्ट व्याख्या एवं विवेचना करना, विशेष रुचिर और रोचक बातों पर प्रकाश डालना, रचना-सन्निहित सिद्धान्तों, मर्मों तथा गूढ़ तत्त्वों को स्पष्टरूप से समझाना, रचना के भिन्न भिन्न अंगों (भाषा, भाव, चमत्कार-चातुर्य आदि) का विश्लेषण करके निदर्शन करना और उनके रहस्यों का—यदि कहीं कुछ हैं—उद्घाटन करना आदि इसी अंश में रहना चाहिए। तीसरा भाग है—परिणाम या निर्णय— इस भाग में कलेवर का संश्लिष्ट और संक्षिप्त निष्कर्ष (Synthesised summary), उसके आधार पर स्थिर किया गया अपना मत

या निर्णय (Conclusion) जो सर्वथा सतर्क और युक्ति-संगत होता हुआ, यथार्थ, निष्पक्ष और पुष्ट हो, और भूमिकागत-आलोचना की रीति-नीति के अनुकूल हो, देना चाहिए। इस प्रकार एक विभाजनचक्र बना कर तदनकूल ही आलोचना के लिखने पर वह यथेष्ट रूप से सीमित और मर्यादित हो सकती है।

मर्यादा कई अर्थों में प्रयुक्त की जा सकती एवं जाती है, प्रथम अर्थ में तो यह सीमा वा विस्तार का भाव रखती है, किन्तु इसे लेखक या आलोचक के लिए प्रयुक्त करके उसके अधिकारों एवं रुचि आदिकों को भी नियंत्रित रखने के अर्थ में ले सकते हैं। लेखक या आलोचक दोनों को अपनी अपनी मर्यादा का सदैव पूरा ध्यान रखना चाहिए, किसी को भी अपने अधिकारों, एवं कर्तव्यों से बाहर न जाना चाहिए। आलोचक को रचयिता, उसके देश-समाज तथा समय-संस्कृति (सभ्यता, धर्म, मत आदि) की भी मर्यादा का यथेष्ट विचार रखना चाहिए। अपने शब्दों एवं वाक्यों के प्रयोग में उसे सतर्क, और शिष्ट रहना सर्वथोचित है। सहृदयता तथा शिष्टता मर्यादा के विशेष अंग और परिचालक हैं, उसे ये दोनों प्रधान तत्त्व विमल, समीचीन और सुष्ठु रखते हैं। सद्भावना, सद्भाव, एवं सुरुचि इनके परिचायक गुण हैं, और इन्हीं पर एक प्रकार से ये समाधारित भी रहते हैं।

इनसे नियंत्रित रहने पर आलोचना की भाषा, विचार-धारा तथा शैली सभी शिष्ट और निर्दोष रहती हैं, और इनका

निर्दोष रहना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य ही है, अतएव आलोचक को इन बातों पर सर्वथैव पूरा ध्यान रखना चाहिए।

सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर आलोचक कई रूपों में प्रकट होता है कभी तो वह एक वैज्ञानिक की भाँति आलोच्य रचना का याथातथ्य अवलोकन कर उसकी विशेष रुचिर रोचकताओं के आधार पर रचना-सौष्ठव के व्यापक (General) नियम निश्चित करता है, कभी वह केवल रचना के सांगोपांग समझने और समझाने का प्रयत्न एक टीकाकार (Interpreter or Commentator) के समान करता है, कभी वह एक न्यायाधीश की भाँति आलोच्य रचना और उसके रचयिता के मूल्य, स्थान आदि का निर्णय करता तथा कभी एक वकील या एडवोकेट के समान अपनी आलोच्य रचना के रचयिता का पक्ष लेकर उसे प्रतिपादित, परिपुष्ट, या सिद्ध करता हुआ अपनी प्रतिभा के प्रभाव से दूसरों के हृदयों में रमाने या जमाने का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार वह ऐतिहासिक एवं दार्शनिक भी होकर कभी कभी आलोचन-कार्य करता है।

प्रत्येक योग्य आलोचक को किसी भी रचना के सम्बन्ध में अपने स्वतन्त्र मत या निर्णय के रखने और प्रकट करने का पूरा अधिकार रहता है, ऐसी दशा में रुचि-पार्थक्य आदि के प्रभाव से भिन्न भिन्न आलोचकों के मतों या विचारों में—यद्यपि वे सब एक ही रचना की आलोचना

करते हुए उसी के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हैं और एक ही शैली से उसका अवलोकन करते हैं—बहुत बड़ा अन्तर पाया जाता है। प्रत्येक आलोचक अपने विचारों से अन्य पाठकों को उसके साथ सहमत होने और सहयोग करने का प्रयत्न करता है, किन्तु समान प्रभाव, बल और गौरव रखते हुए जब दो सत्समालोचकों के विरोधी विचार पाठकों के सम्मुख आते हैं तब वे बड़ी संदिग्ध और किंकर्तव्यविमूढ़ता की-सी दशा को प्राप्त हो जाते हैं।

रुचि-पार्थक्य आदि के कारण जिस प्रकार अन्य क्षेत्रों में उलझनें, जटिलतायें और विवाद-ग्रस्त शंकायें-सी उत्पन्न हो जाती हैं उसी प्रकार आलोचना के भी क्षेत्र में समझना चाहिए। वास्तव में दो व्यक्ति एक ही वस्तु को देखते हुए भी (दृष्टि-कोण, रुचि आदि की विचित्र विभिन्नता के कारण) उसे पृथक् पृथक् रूप में देखते हैं और दोनों उसी प्रकार पृथक् पृथक् उसे दिखाते या समझाते भी हैं। इस जटिलता के दूर करने के लिए रचना के व्यापक एवं सर्वमान्य (सर्वत्र निष्ठ—Common) सिद्धान्त या नियम निश्चित कर दिये गये थे। जब कभी इन नियमों के आधार पर दो व्यक्ति किसी रचना को देखते-दिखाते हैं तब भले ही कुछ दूर तक उनके कथन में साम्य एवं सादृश्य दिखलाई पड़ता है, वह यह साम्य वहीं तक सीमित रहता है जहाँ तक इसका सम्बन्ध रूढ़ियों (Conventions), स्थिर मापकों (Standards)

और निश्चित नियमों से है। किन्तु जहाँ रुचि (Taste), व्यक्तित्व, भाव (Sense) आदि, जो परिवर्तनशील हैं, और भावना, स्वभाव, संस्कृति, तथा ऐसी ही अन्य दशाओं पर निर्भर हैं, स्थायी नहीं रह सकते हैं। अस्तु, इन सबके प्रभाव से प्रेरित होकर आलोचना—चाहे उसे कितना ही स्वच्छ और शुद्ध क्यों न रक्खा जाये—व्यक्तिगत, प्रभावपूर्ण (Impressionistic) और आत्मगत (Subjective) ही रहती है।

इसी के साथ यह भी विचारणीय है कि सभी आलोचक गुण, कर्म, स्वभावादि में समान और योग्यता, संस्कृति आदि में एक से ही नहीं होते, उनमें बड़ा अन्तर पाया जाता है, अतएव उनकी लिखी हुई आलोचनाओं में भी—चाहे वे एक ही रचना के सम्बन्ध में क्यों न लिखी गई हों—विशाल अन्तर पाया जाता है। जिस प्रकार रचनाओं का विशेष मूल्य होता है उसी प्रकार उनकी आलोचनाओं का भी मूल्य रहता है—सभी आलोचनायें समान कोटि और एक ही मूल्य की नहीं होतीं। कुछ आलोचकों और उनकी कुछ आलोचनाओं को तो अधिक प्रतिष्ठा और व्यापकता प्राप्त होती है और कुछ को नहीं। इन सब बातों का निर्णय प्राय: पाठकगण आलोचक की योग्यता, क्षमता और प्रतिभा आदि के आधार पर किया करते हैं। कबीर साहब के काव्य की आलोचना कई आदमियों ने की है किन्तु उन सबमें से प्राय: लोग श्री० पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय की ही आलोचना

को विशेष रूप से पढ़ते, मानते और मूल्यवान् समझते हैं, क्योंकि वह पं० उपाध्याय की लिखी हुई है—और उन हरिऔधजी की कृति है जो सर्वथा काव्यमर्मज्ञ, सुयोग्य कवि एवं कवि-कर्म-मर्मज्ञ हैं। वे कबीर की आलोचना करने के अधिकारी सत्समालोचक हैं। इसी प्रकार लोग "हिन्दी-नवरत्न" को आलोचनाओं में विशेष महत्त्व देते हैं क्योंकि वह श्री० मिश्रबंधुओं का लिखा हुआ है, इसी प्रकार और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं। तात्पर्य यह है कि आलोचना के पढ़ने से पूर्व आलोचक की योग्यता आदि का यथेष्ट परिचय प्राप्त करना भी आवश्यक है, तब कहीं उसकी आलोचना का पढ़ना और उसकी अन्य आलोचनाओं से तुलना करके अपना मत निश्चित कर उसका मूल्य निर्धारित करना उपयुक्त है।

इस प्रकार सुयोग्य और अधिकारी आलोचक की ही लिखी हुई आलोचनाओं का अवलोकन करना उपयुक्तोपादेय है। सत्समालोचकों की भी आलोचनाओं के पढ़ते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उनमें वे वस्तुत: आलोचकों को ही उस रूप में देखेंगे जिस रूप में उन्होंने अपने को अपनी आलोच्य रचना के रचयिता के साथ रखा है। रचयिता के साथ जैसा सम्बन्ध उन्होंने रचना के द्वारा स्थापित किया है उसी सम्बन्ध का प्रदर्शन वे आलोचना में पा सकते हैं अर्थात् आलोचना में आलोचक के वे ही विचार (जो व्यक्तिगत ही हैं) उन्हें मिलेंगे जो उसमें आलोच्य रचना के

प्रभाव से उत्पन्न हुए हैं और स्वतंत्र रूप से अंकित किये गये हैं। तात्पर्य यह है कि आलोचना सर्वथा व्यक्तिगत विचारों को ही प्रकट करती या कर सकती है—चाहे वह रूढ़िगत (Conventional) निर्णयात्मक (Judicial) या सैद्धान्तिक (Theoretical) किसी भी रूप में क्यों न हो। वह आलोच्य रचना के रचयिता के सम्पर्क-सम्बन्ध से प्रभावित आलोचक के व्यक्तित्व का ही प्रकाशन-मात्र है। इस दृष्टि से आलोचना व्यापक और सर्वमान्य नहीं ठहर सकती। आलोचकों की योग्यता, रुचि, प्रतिभा आदि के वैलक्षण्य एवं पार्थक्य के कारण जो अन्तर उनके मूल्यों, प्रभावों और प्रतिष्ठा आदि में पड़ता है वही उनकी आलोचनाओं में भी पड़ता है। मत-पार्थक्य की उलझन या जालिका की जटिलता के कारण आलोच्य रचनाओं और रचयिताओं के मूल्य, स्थान आदि भी निश्चित तथा स्थिर नहीं हो पाते।

इस प्रकार की जटिलता को देखकर कुछ लोगों ने यह निश्चित तथा प्रचलित करने का प्रयत्न किया है कि किसी रचना की अच्छाई या बुराई जनता के उसे पसन्द करने या न करने से ही जानी जा सकती है और वास्तव में इसी प्रकार जानना भी चाहिए। जनता (और उसकी रुचि) ही वास्तव में सच्ची समालोचना करती है, वही आलोचक है और वही किसी रचना और उसके रचयिता की योग्यता, उत्तमता, मूल्यता आदि की सच्ची कसौटी या निर्णय करनेवाली

कचहरी है। किन्तु इस विचार में भी कुछ तथ्यता नहीं जान पड़ती, यदि इस पर इस प्रकार दृष्टि-पात किया जाता है कि जनता साधारण रूप से सर्वथा सुशिक्षित, सुसंस्कृत, विद्या-विवेक-पूर्ण, सुरुचि-सद्भावना-समन्वित तथा सुयोग्य नहीं होती, उसमें विमूढ़ता, अयोग्यता आदि के दुर्गुणों का—जो सत्समालोचना के विनाशक या मूलोच्छेदक हैं—प्राधान्य, प्राबल्य तथा प्राचुर्य रहता है। सुयोग्यता, कला-कुशलता, विद्वत्ता आदि के सद्‌गुण बहुत ही कम महापुरुषों में पूर्णता के साथ पाये जाते हैं, और वास्तव में ऐसे ही लोग किसी रचना को यथार्थ रूप से समझ तथा समझा सकते और उसके सम्बन्ध में निर्णय के रूप से अपने विचार प्रकट कर सकते हैं। हम अयोग्य व्यक्तियों की, चाहे वे कितनी ही अधिक संख्या में होकर बहुमत से कोई निर्णय क्यों न करें—अनुमति का मूल्य कुछ नहीं समझते और इसी लिए उसे स्वीकार भी नहीं करते, विपरीत उसके हम सुयोग्य व्यक्ति की—चाहे वह एक ही क्यों न हो—बात सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं—क्योंकि हम जानते हैं कि वह सब प्रकार सुयोग्य, अनुभव-ज्ञानपूर्ण और समर्थ है, वह यथार्थ रूप से विचार करके किसी विषय पर सच्ची राय दे सकता है और वह किसी विषय को वास्तव में ठीक ठीक सोच, समझ, तथा समझा सकता है, इसी लिए हम उसके कथन को गौरव एवं महत्त्व देकर मान्य समझते हैं। लोकप्रियता (Popularity)

ही वास्तव में रचना की कसौटी तथा निर्णय की सच्ची परख नहीं।*

अब इससे स्पष्ट है कि सत्समालोचना वास्तव में एक सुयोग्य, समर्थ तथा अनुभवी ही व्यक्ति कर सकता है क्योंकि वही वास्तव में उसका अधिकारी तथा पारखी है और उसी की आलोचना ठीक और मान्य है। जनता की आलोचना इसलिए मान्य नहीं चूँकि वह विशेष रूप से अयोग्य तथा अपठित है। अब सुयोग्य जनों को ही निर्णायक मान लेने पर भी, जैसा ऊपर दिखलाया जा चुका है, आपत्ति आती है और मत-पार्थक्य का जाल, जो भ्रमात्मक, संदिग्ध तथा उलझन में डालनेवाला है, फैल जाता है। ऐसी दशा में क्या होना चाहिए, प्रश्न यह उठता है। उत्तर में कहा जा सकता है कि यद्यपि सुयोग्य समालोचकों में मत-भेद मिलता है तथापि निर्णय या मत उन्हीं के विचारणीय और स्वीकरणीय हैं। हमें ऐसी दशा में उनका तुलनात्मक अध्ययन तथा उनकी

* इसी लिए लोकरंजनता (Pleasing to Public), लोकानुकूलता (Suitable to Public taste) यथार्थ में रचनाओं के मूल्य निर्धारित करने तथा उनके परखने की सच्ची कसौटियाँ नहीं कही जा सकतीं। यह वास्तव में ठीक है कि यदि रचना में शिष्ट-सहृदय समाज-रंजकता, तदनुकूलता, तथा तत्प्रियता के साथ ही साथ लोकप्रियता आदि की भी मात्रा पूर्ण रूप में हो तो वह रचना निस्संदेह ही सर्वोत्तम कही जा सकती है किन्तु जनता (लोक-रुचि) ही को रचना के निर्णय की अदालत मानना और लोक-व्यापकता तथा लोक-प्रियता को कसौटी समझना तो नितान्त असंगत और अनुपयुक्त है।

आलोच्य रचनाओं का स्वत: अवलोकन करके निर्णय करना चाहिए। इससे हमें कई लाभ होंगे, हमें आलोचकों के मूल्य, रचना-रचयिता के सच्चे गुण-दोष तथा अपने निर्णय के जानने का अवसर मिलेगा।

किसी आलोचक को कुछ पक्षपाती, तथा किसी विशेष रुचि या मत का जानकर भी, यदि वह योग्य व्यक्ति है—छोड़ देना भी भूल है, उसकी आलोचना को इसलिए देखना चाहिए चूँकि वह योग्य, सुसंस्कृत (Cultured) और ज्ञानानुभवपूर्ण व्यक्ति है। किसी अन्य समालोचक के सामने यदि वह कुछ न्यून पड़ता है तो बहुतों के सामने अधिक भी ठहरता है। वह अयोग्य जनता से कहीं अधिक मान्य है।

यहीं हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि साधारण जनता और सुसंस्कृत (well-cultured) समाज की रुचियों (tastes), अन्तर्दृष्टियों (insights), भावों, भावनाओं (senses, emotions) आदि में बहुत बड़ा अन्तर पाया जाता है। जितनी ही अधिक जिस व्यक्ति की मन-मस्तिष्क तथा हृदय और उनकी शक्तियाँ आदि विकसित (Developed) संस्कृत (Cultured) और परिष्कृत या परिमार्जित (Refined) होंगी, जितनी ही अधिक उसकी भावनायें, कल्पनायें, मनोवृत्तियाँ आदि समुन्नत और बिखरी-निखरी हुई होंगी उतनी ही अधिक उसकी रुचि, आदि भी सुसंस्कृत और असाधारण हो सकेगी। ऐसे व्यक्ति के लिए साधारण विषय, वस्तुएँ, और बातें साधारण रूप से प्रकट

की जाने पर विशेष रुचिर-रोचक और सुखप्रद न हो सकेंगी, वरन उसके लिए कला-कौशल की विचित्र विशेषताओं के साथ विचक्षण और विलक्षण भाषा एवं शैली में बारीकी की पुट से प्रकट की गई बातें, वस्तुएँ आदि ही, जिनमें कुशल कल्पना के लिए पर्याप्त स्थान है, समाकर्षक और सुन्दर प्रतीत होंगी, उसे व्यंजना और लक्षणायुक्त पदावली ही विशेष रुचिकर होगी, सूक्ष्मता एवं मार्मिकता की ही ओर उसे चलना अधिक अच्छा लगेगा, इसलिए वह इन सब गुणों से समन्वित साहित्य का ही अनुरागी हो सकेगा, उसी से उसका मनोरंजन तथा परिपोषण होगा और वह उसी को उत्तम तथा अवलोकनीय मानेगा। ठीक इसके विपरीत दशा होती है उस व्यक्ति की जिसमें उक्त गुण या बातें या तो बिलकुल ही नहीं पाई जातीं या बहुत ही अल्प मात्रा में पाई जाती हैं।

ग्रामीण तथा असंस्कृत (Uncultured) लोगों के लिए सभी बातें अपने नितांत नग्न, स्थूल और साधारण रूप में ही बोधगम्य तथा अनुभवगम्य होती हैं। उनके लिए इसीलिए साधारण (कला-कौशलहीन, मार्मिकतारहित आदि) साहित्य ही, जो विकसित मस्तिष्क के लोगों की दृष्टि में सर्वथा भद्दा, अश्लील (अशिष्ट, तथा असभ्य) और कुत्सित जान पड़ता है, उपयुक्त होता है। यही कारण जान पड़ता है कि साहित्य के मुख्यतया दो रूप होते हैं—१—साधारण, २—उन्नत या उत्कृष्ट, और रचनायें तथा रचयिता भी इन्हीं

दो श्रेणियों के पाये जाते हैं। उच्च श्रेणी के लोगों के लिए साधारण रचनायें और रचयिता कुछ भी मूल्य नहीं रखते और उत्कृष्ट रचनायें तथा रचयिता साधारण लोगों के लिए दुर्बोध और क्लिष्ट होने के कारण मूल्य रखते हुए भी बिना मूल्य से धूल भरे हीरे के समान हो जाते हैं।

इसी दृष्टि से कह सकते हैं कि आलोचक भी साधारण और उत्कृष्ट होते हैं। साधारण आलोचक उत्कृष्ट रचना और रचयिता को ठीक ठीक समझ और समझा ही न सकेगा, क्योंकि उसके समझने के लिए विशेष योग्यता, संस्कृति आदि की आवश्यकता होती है, जिनका उपार्जन श्रमसाध्य है। अस्तु अब कह सकते हैं कि सत्साहित्य के समझने-समझाने और उसकी आलोचना करने के लिए आलोचक में योग्यता होनी चाहिए। जितनी ही अधिक मात्रा में जितनी ही अच्छी योग्यता जिस आलोचक में होगी उतना ही अधिक वह उत्कृष्ट साहित्य को—जो वास्तव में आलोकनीय और ग्रहणीय है और जिससे ही सच्चे सुख और ज्ञान की प्राप्ति है—समझ और समझा सकेगा। अतएव भिन्न भिन्न आलोचकों की आलोचनाओं में मत-पार्थक्य को देखकर हमें उनकी योग्यता पर दृष्टिपात करना चाहिए और सबसे अधिक योग्य आलोचक की ही आलोचना को विशेष गुरुता तथा महत्ता देनी चाहिए।

अब एक प्रश्न पर जो आलोचना को व्यक्तिगत (व्यक्तित्व-

प्रधान या तत्प्रदर्शक और तत्प्रभावजन्य) मानने पर उठता है, और विचार कर लेना चाहिए। किसी आलोचक ने किसी रचना और उसके रचयिता की आलोचना की और उसके द्वारा पाठकों को अपनी रुचि, प्रवृत्ति आदि का परिचय दिया और अपने निर्णय या मत के द्वारा उस आलोच्य रचना तथा उसके रचयिता के मूल्य आदि पर प्रकाश डाला। अब प्रश्न यह है कि क्या उसकी वह आलोचना और वह निर्णय सर्वथा पूर्ण और अंतिम है? क्या उससे न्यूनाधिक आगे कहा ही नहीं जा सकता, न केवल अन्य पाठकों के लिए ही वरन् उस आलोचक के लिए भी, जिसकी लिखी हुई वह आलोचना है, क्या वह सर्वथा संतोषप्रद, पूर्ण और अंतिम है, सर्वदा मान्य और निश्चित है? इन प्रश्नों के उत्तर में कहा जा सकता है कि वास्तव में वह आलोचना पाठकों और आलोचक किसी के लिए भी सर्वदा, सर्वप्रकार, सर्वथा पूर्ण, अंतिम और मान्य नहीं। पाठकों के लिए तो उसका मान्य और अंतिम न होना नितान्त उपयुक्त और ठीक ही है क्योंकि वह व्यक्तिगत है, और रुचि-पार्थक्य के कारण सर्वथा मान्य नहीं, उनके लिए और भी आलोचक हैं जो उसी रचना को देखते-दिखाते और समझते-समझाते हैं, फिर पाठक भी कुछ विचार रखते और आलोचनाओं तथा रचनाओं को पढ़ते तथा समझते हैं, अतः सर्वथा सम्भव है कि उनके मत या विचार में वैषम्य हो या

साम्य हो। अस्तु पाठकों को छोड़कर अब देखिए तो उस आलोचक के लिए भी उसकी वह आलोचना सर्वदा सब प्रकार पूर्ण और मान्य नहीं होती। ज्यों ज्यों आलोचक आगे बढ़ता जाता है, उसके ज्ञान, अनुभव, (मन-मस्तिष्क) सम्पर्क, आदि का विकास होता जाता है त्यों ही त्यों उसको रुचि, प्रवृत्ति, (भाव-भावना) आदि में भी परिवर्तन होता जाता है जिसके प्रभाव से उसके विचारों, भावों और सिद्धान्तों में भी रूपान्तर होने लगता है। प्रथम के विचार उसे स्वत: ठोक, विशेष पुष्ट, शुद्ध और संतोषप्रद उसकी उन्नत अवस्था में नहीं प्रतीत होते, वह उनमें भी अपनी विकसित दशा के आधार पर (उसी के अनुकूल) यथेष्ट परिवर्तन या रूपान्तर करने की इच्छा करता है और प्राय: ऐसा करता भी है। ऐसी दशा में आलोचना आलोचक के लिए भी अपने एक उसी रूप में सर्वदा सब प्रकार मान्य नहीं रह जाती, अस्तु वह स्थायो, अंतिम (Final) और पूर्ण नहीं हो सकती।

इस कठिनाई को दूर करने के लिए आलोचक को आलोचना कर चुकने पर यह देखना चाहिए कि यदि वह आलोच्य रचना से प्रभावित होकर प्रसन्न या अप्रसन्न हुआ है और उसको श्लाघा या विगर्हणा करता है तो वह कहाँ तक ठोक है, उसको बातों में कहाँ तक समीचोनता और शुद्धता है, वह वास्तव में कहाँ तक आलोच्य रचना और रचयिता के सम्बन्ध में ठोक निर्णय कर रहा है और कहाँ तक

अपनी ही रुचि एवं प्रवृत्ति आदि के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट कर रहा है, और साथ ही कहाँ तक वह देश-काल तथा समाज की रुचि, प्रवृत्ति आदि पर विचार कर आलोचना कर रहा है, कहाँ तक उसकी रुचि आदि (जिसके आधार पर वह आलोचना कर रहा है) तथा उसका निर्णय पाठकों की रुचि एवं अनुमति के साथ सामञ्जस्य तथा रचयिता की प्रवृत्ति आदि के साथ साम्य रखता है ? इन प्रश्नों को ध्यान में रखने से वह अपनी आलोचना को बहुत कुछ समीचीन, व्यापक और पुष्ट कर सकता है, यद्यपि उसे अपनी रुचि, मनोवृत्ति आदि की विशेषताओं से सर्वथा अप्रभावित एवं यथोचित रूप से प्रभावित रहना असम्भव या दुस्साध्य ही होगा, क्योंकि इन सबका सम्बन्ध उसकी प्रकृति तथा उसके स्वभावजन्य चरित्र आदि से सर्वथा अबाध रूप में ही है अतः इन्हें वह अन्यथा करने में असमर्थ है।

प्रायः यह देखा जाता है कि हम जिस वस्तु से पहले संतुष्ट या असंतुष्ट, प्रसन्न या अप्रसन्न होते हुए उसे पसंद या नापसंद करते हैं, कुछ समय के उपरान्त, जब हमारी रुचि, बुद्धि, मनोवृत्ति एवं प्रकृति के साथ ही विद्या-बुद्धि तथा हमारी अनुभूति में नवीन विकास हो जाता है, उसी को दूसरी ही दृष्टि से देखने लगते हैं, ऐसी दशा में उस वस्तु के सम्बन्ध में हमारे ही विचार हमारे ही लिए फिर मान्य, समीचीन और पूर्ण संतोषप्रद नहीं रह जाते, तब अन्य जनों

के लिए तो कहना ही क्या है। इसलिए यदि आलोचना के लिए रचना की सुखप्रदता (आनन्ददायिता) को मापक या सिद्धान्त मान लें तो उपयुक्त नहीं ठहरता। सुख या आनन्द मानसिक दशायें या भावनायें मात्र हैं जो स्थायी, एक रूप की और सर्वत्र सर्वदा सब प्रकार व्यापक तथा निश्चित नहीं, वरन् परिवर्तनशील, अस्थिर और अनेक रूप की हैं। इसी प्रकार सौंदर्य का भी, जिसकी सत्ता की भी आलोचना के लिए रचना में महत्ता मानी जाती है, हाल है। सौंदर्य की भी भावना परिवर्तनशील, व्यक्तिगत, अस्थिर और भिन्नरूपा है। इन सब बातों पर पूरा पूरा ध्यान रखते हुए आलोचक को अपने कार्य में सर्वथा सावधान और सतर्क रहना ही सर्वतोभद्र और समीचीन है।*

---

* इसके साथ ही, जैसा कहा जा चुका है, आलोचक को अपनी योग्यता का भी ध्यान आलोच्य रचना को देखते समय रखना चाहिए। प्रायः यह देखा जाता है कि साधारण आलोचक को उत्कृष्ट रचना सुन्दर और सुखद नहीं लगती क्योंकि उसकी समझ में ही वह नहीं आती, उसकी, उच्च कोटि की भावावली, उसका असाधारण एवं वैचित्र्यपूर्ण विचक्षण वाक्य-विन्यास तथा विलक्षण कला-कौशल उसकी साधारण योग्यता के क्षेत्र से कहीं बाहर रहता है, और वह अपने उत्कृष्ट गुणों के ही कारण उसे दुर्बोध होकर रुचिर और रोचक नहीं प्रतीत होती। कोई रचना किसी के लिए अपनी उत्कृष्टता के ही कारण सुन्दर, सुखद और सराहनीय होती और विपरीत इसके कोई साधारण

प्रभाववाद को आलोचना-क्षेत्र में प्राधान्य देने से भी कतिपय बाधायें उपस्थित होती हैं। प्रायः देखा जाता है—और

और सरल होने के कारण सुबोध होती हुई भी रुचिर और रोचक नहीं होती है। प्रायः साधारण आलोचक और पाठक उत्कृष्ट रचना को (जो वास्तव में बहुत ही सुन्दर, सुखद और समीचीन है) छोड़ बैठते हैं क्योंकि वह उनकी साधारण समझ से सर्वथा परे है, और साधारण रचनाओं से ही सौंदर्यानन्द की अनुभूति प्राप्त करने लगते हैं; क्योंकि ऐसी ही रचनाओं को वे समझ और सराह सकते हैं। किन्तु वास्तव में रचना की महत्ता उसके साहित्य-सौष्ठव, रचना-कला-कौशल और इनकी समष्टि और उत्कृष्टता पर ही समाधारित है।

ऐसी दशा में सबसे सीधा उपाय अपने को भूल से बचाने का यही जान पड़ता है कि आलोचक आलोच्य वस्तु का प्रथम एक या यथावश्यकता कई बार अध्ययन और अवलोकन कर ले और उस समय उस रचना और रचयिता के सम्बन्ध में जैसी भी उसकी धारणा बने, जैसी भावनायें उसमें उत्पन्न हों तथा जो कुछ भी उसका निर्णय हो, उन्हें वह अपने हृदय में ही रख ले और फिर स्वतंत्र रूप से उन पर विचार करे, रचना में उनकी चरितार्थता देखे तथा रचना का फिर से अवलोकन करे और उन भावनाओं को दूर रखकर उसके देखने का प्रयत्न करे, ऐसा करने से वह अपनी धारणा, भावना तथा अपनी अनुमति का वास्तविक मूल्य, ज़ोर (प्रभाव-प्राबल्य) तथा स्वाभाविक या सच्चा तथ्य जान सकेगा, तब उसी के आधार पर वह सावधानी से उसकी आलोचना के लिखने का प्रयत्न करे। यही यथार्थ में आलोचन-क्रिया का सच्चा मार्ग है। यदि केवल अपनी रुचि तथा रचना-प्रभाव के ही आधार पर, जैसा भी वह है, (उसी के अनुकूल) अपना निर्णय या मत निश्चित किया जायगा तो वास्तविक आलोचना न हो सकेगी।

यह सर्वथा स्वाभाविक ही सा जान पड़ता है, कि हमें अपनी रुचि, प्रवृत्ति आदि के ही अनुसार वस्तुएँ भली-बुरी रुचिरा-रुचिर तथा उचितानुचित जान पड़ती हैं, उनका प्रभाव भी हमारे ऊपर हमारी ही मनोवृत्तियों एवं भावनाओं के अनुकूल पड़ता है। प्राय: वही रचना हमारे ऊपर प्रभाव डालती है तथा हमें रुचिर-रोचक प्रतीत होती है, जो हमारी योग्यता, रुचि, प्रवृत्ति, संस्कृति (Culture) आदि के साथ सामंजस्य या साम्य रखती है। कभी कभी कोई रचना हमें इसलिए समाकर्षक जान पड़ती है चूँकि उसमें और हमारी रुचि आदि में पूर्ण वैषम्य या विरोध-सा है। अधिक उत्कृष्ट और हमारी योग्यता से बहुत बाहरवाली रचना—रुचिर-रोचक होती हुई भी—हम पर अपना अभीष्ट और पूरा प्रभाव नहीं डाल सकती, इसी प्रकार हमारी योग्यता से बहुत निम्न श्रेणी की रचना भी हम पर अपना प्रभाव नहीं डाल पाती। अस्तु यदि केवल प्रभाव के ही आधार पर आलोचक अपना निर्णय स्थिर करेगा तब उसके सही और ग़लत होने की पूरी आशंका रहेगी। यह सर्वथा सम्भव है कि जो रचना उस पर प्रभाव डालती है और उसकी दृष्टि में उत्तम है, वास्तव में उतनी रुचिर, रोचक और सराहनीय न हो, या इसके विपरीत हो। अथवा वह सर्वथा उत्कृष्ट, सुन्दर और श्लाघ्य होती हुई भी उस पर अपना प्रभाव ही न डाल पाती हो—क्योंकि प्रभाव डालना या न डालना हमारी योग्यता के ही ऊपर

निर्भर-सा है—ऐसी दशाओं में प्रभाववाद के अनुसार समालोचना को ले चलना युक्तियुक्त और न्यायसंगत न होगा।

यह भी देखा जाता है कि रचनाओं के प्रभाव समय, समाज, परिस्थिति आदि के भी अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। कोई वस्तु, भाव या भावना, हम पर इस समय, यहाँ प्रभाव डालती है—क्योंकि वह हमारे, हमारी समाज-संस्कृति, समय और स्थान के सर्वथा उपयुक्त या अनुकूल है—किन्तु वही वस्तु हम पर (या किसी दूसरे समाज के दूसरे व्यक्ति पर) किसी दूसरे समय और स्थान पर अपना प्रभाव नहीं डाल पाती, चूँकि वह उस समय, स्थान आदि के अनुकूल नहीं। कोई रचना हमको इस अवस्था में प्रभावित कर सकती है, क्योंकि उसका हमारी अवस्था से पूर्ण सामंजस्य है—वही रचना हमारे लिए दूसरी अवस्था में (जब हममें विशेष परिवर्तन हो चुका है) निस्सार ठहरती है। ऐसी दशा में रचना के प्रभाव को ही देखकर निर्णय करना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता—क्योंकि प्रभाव परिवर्तनशील, अस्थायी और अस्थिर है। इसके साथ ही वह हमारी ही रुचि, प्रवृत्ति, योग्यता आदि के ऊपर निर्भर होता हुआ ठहरता है।

हम प्रायः बाल्यकाल से ही अपनी रुचि, मनोवृत्ति, योग्यता आदि को समय, समाज और संस्कृति के अनुकूल एक विशेष रूप में बनाते रहते हैं और ऐसा स्वभाव-सा डाल लेते हैं कि हमें उसी के अनुकूल रहने या चलनेवाली वस्तु

(चाहे रचना हो या और कुछ) प्रिय प्रतीत होती है। हम समाज-सम्पर्क के प्रभाव से किसी विशेष प्रकार की भावना, संस्कृति, रुचि आदि के आदी हो जाते हैं—उसके विपरीत यदि कोई वस्तु हमें मिले तो चाहे वह कैसी ही श्लाघनीय क्यों न हो, हम पर अपना अभीष्ट प्रभाव डालकर भी हमारे लिए सर्वथा रुचिर, रोचक और सराहनीय नहीं होती, कभी कभी इसके ठीक विपरीत भी होता है। इससे यह स्पष्ट है कि हमें प्रभाव को प्राधान्य न देना चाहिए। साथ ही सच्ची आलोचना करते समय इस पर विशेष ध्यान भी न देना चाहिए। हाँ, इससे सहायता अवश्य लेनी चाहिए। किसी किसी का मत है कि किसी रचना के प्रभाव की सच्ची कसौटी यह है कि प्रभाव कितना पूर्ण, प्रगाढ़, प्रधान, स्थायी और उपयुक्त सिद्ध हुआ है। जितना ही किसी रचना का प्रभाव पूर्ण, प्रधान (प्रबल) स्थायी और उपयुक्त होगा उतनी ही वह रचना उत्तम कही जा सकेगी। अन्यथा जितना ही वह अपूर्ण (शिथिल या निर्बल) अप्रधान, या न्यून, अचिरस्थायी तथा अनुपयुक्त होगा उतनी ही वह रचना निम्न श्रेणी की ठहरेगी।

इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि पाठक प्रथम अपनी रुचि (Taste) सद्भावना (Good sense) तथा अन्तर्दृष्टि (Insight) को यथोचित रूप देने का प्रयत्न कर ले, और इनको यथेष्ट रूप से विकसित तथा परिष्कृत बना ले। इसके लिए उसे साहित्याध्ययन, सत्संग और

सदाचरण की आवश्यकता पड़ेगी। इनके द्वारा वह अपनी रुचि आदि को संस्कृत और शिष्ट बना तो सकेगा किन्तु एक व्यापक और सर्वसाधारण (General) रूप में हो। रचनाओं में उसे भिन्न भिन्न रचयिताओं की भिन्न भिन्न रुचियों का अनुभव होगा किन्तु सूक्ष्मरूप से देखने पर उसे सबके नीचे एक व्यापक तथा सर्वनिष्ठ प्रवृत्ति या प्रकृति की धारा प्रवाहित मिलेगी, इसका अनुभव एक विकसित तथा सुशिक्षित (Well-trained) सुरुचि तथा सद्भावना ही कर सकती है। इस दृष्टि से देखने पर एक व्यापक सिद्धान्त की फिर आवश्यकता पड़ती है जिसके आधार पर सुरुचि-शिक्षण का कार्य हो सके।

इसी के साथ प्रत्येक आलोचक और पाठक को यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि जिस प्रकार उसने अपनी सुरुचि आदि को सुशिक्षित, शिष्ट और विकसित बनाया है, उसी प्रकार उससे वह सर्वथा ऐसा प्रभावित न रहे कि केवल उसी के आधार पर वस्तुओं और रचनाओं को देखा-दिखाया, और समझा-समझाया करे, उसी के आधार पर वह उनका निर्णय भी किया करे। वरन् उसे अपनी सुशिक्षित रुचि के साथ भी पर्याप्त रूप से सतर्क और सावधान रहना चाहिए। किसी रचना के देखने में उसे अपनी उस सुशिक्षित तथा व्यापक रूप में विकसित एवं परिष्कृत की हुई सुरुचि से यथोचित सहायता ही लेनी चाहिए, साथ ही उसे रचना में प्रतिबिम्बित होनेवाली रचयिता

की सुरुचि तथा सद्भावना को भी देखना और अपनाना चाहिए इसी के लिए उसे 'सहानुभूति' की आवश्यकता पड़ेगी।

इसके उपरान्त उसे अपनी सुरुचि को रचयिता की विशेष रुचि या भावना के द्वारा नये रूप से कुछ प्रभावित या परिमार्जित (Modified) सा भी कर लेना चाहिए जिससे वह उस रचना के रसास्वादन का यथार्थ अनुभव करने में सफल या समर्थ हो सके। सर्वत्र एवं सर्वदा उसे अपने को प्रभावित बनाते हुए भी प्रभाव से परे और स्वतंत्र रखने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। विशेष रूप से तो उस समय उसे सब प्रकार के प्रभावों से अपने को विनिर्मुक्त और शुद्ध कर लेना चाहिए जब वह किसी रचना का निरीक्षण कर चुकने पर उसका निर्णय या मूल्य-निर्धारण करने लगे। रचना का समास्वादन करने के लिए उसे अवश्यमेव अपनी सुशिक्षित, शिष्ट, व्यापक तथा सुविकसित सुरुचि एवं सद्भावना को रचयिता की रुचि एवं भावनानुभूति के द्वारा सहानुभूति रखने के लिए प्रभावित या परिमार्जित करना चाहिए। किन्तु निर्णय करते समय उसे लोकरुचि, स्वरुचि, तथा रचयिता-रुचि आदि सबका यथेष्ट ध्यान रखते हुए तथा सबसे प्रभावित होकर भी सबके प्रभावों से अपने को परे या स्वतंत्र-सा रखते हुए निष्पक्ष और सतर्क ही रहना ठीक है।

आलोचना-क्षेत्र में सबसे जटिल और प्रबल प्रश्न आलोचकों का मत-पार्थक्य या विचार-वैषम्य है। भिन्न भिन्न

आलोचकों के निर्णय (एक ही रचना के सम्बन्ध में) भिन्न भिन्न तथा प्राय: एक दूसरे के विरोधी से पाये जाते हैं। इसके कारण साहित्य-मूल्य-निर्णय, रचना तथा साहित्य-समीक्षा के सिद्धान्त, अनिश्चित, अस्थिर और परिवर्तनशील होकर, स्थायी, व्यापक और निश्चित नहीं रह पाते। रचना तथा रचना-कला भिन्न भिन्न रूपों में बदलती बदलती एक बहुत गहन, गूढ़ तथा जटिल साहित्य-जालिका की वृद्धि करती रहती है, उसमें भिन्न भिन्न शैलियों, रीतियों या नीतियों के कारण अनीप्सित अस्थिरता-जन्य उलझन बनी रहती है और आलोचना-कार्य भी दुरूह तथा अनिश्चित-सा होकर निरंतर रूपान्तर-पूर्ण बना रहता है। एक विचित्र प्रकार का साहित्यिक-समर होता रहता है जिसमें भिन्न भिन्न प्रकार के मतों के मंत्रों से अभिमंत्रित विचार-बाण एक दूसरे को काटते-छाँटते रचयिताओं और पाठकों को विकल करते रहते हैं। साहित्य-क्षेत्र में सब प्रकार की अराजकता सी फैलकर "सर्वे शूरा: भूपाला:" की कहावत के दुष्परिणाम अपनी नाशकारी नर्तन परिवर्तन के साथ किया करते हैं, जिससे रचना-कार्य को महान् आघात पहुँचता है। रचनायें तो निरन्तर ही होती रहती हैं किन्तु मनमाने रूप-रंग और नये-निराले ढोंग-ढंग के ही साथ। साहित्य बढ़ता हुआ तो जान पड़ता है किन्तु मेद-रोग-ग्रस्त रोगी के ही समान ऊपर से तो ख़ूब मोटा-ताज़ा दीखता है किन्तु रहता वास्तव में आन्तरिक

शक्ति से सर्वथा हीन ही है। अवनतिमयी उन्नति रहती है। अस्तु इस निर्णय-विरोध की जटिल ग्रंथि के खोलने का प्रयत्न होना चाहिए और रचना तथा आलोचना के कार्य को सुव्यवस्थित, सुविनिश्चित रूप से एक निश्चित नीति-रीति के ही साथ होना चाहिए।

सभ्यता-संस्कृति (आचार-विचार) शिक्षा-साहित्य, देश-काल (समय-समाज) और स्वभाव-रुचि आदि में पार्थक्य होने के कारण आलोचकों और उनकी आलोचनाओं में यद्यपि विभिन्नता रहती है तथापि विचार-पूर्वक सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर उनमें अत्यन्त आवश्यक विषयों या बातों (नियमों आदि) के सम्बन्ध में एक विशेष प्रकार का विचार-साम्य एवं मतैक्य भो प्राप्त होता है। यह बात प्राय: साहित्य-शिरोमणि रचनाओं और लेखक-वृन्दाग्रगण्य महापुरुषों के सम्बन्ध में तो स्पष्ट रूप में ही मिलती है, उच्च कोटि की रचनाओं और रचयिताओं के लिए प्राय: आलोचक एक-सा ही विचार प्रकट करते आये हैं, उनके स्थान और मूल्य के निर्धारण में वे प्राय: मतसाम्य ही रखते हैं, अस्तु, साहित्य और आलोचना के क्षेत्र में हमारे लिए न तो केवल यही बात है कि हम व्यक्तित्व-प्रधान (जिनमें व्यक्तिगत रुचि, विचार आदि के पार्थक्य या वैलक्षण्य का ही पूरा प्रभाव प्रदर्शित रहता है और जिनमें आलोचक अपने ही विचार या मत के साथ निर्णय प्रकट करता है) विभिन्न

बिखरे हुए निर्णयों या मतों के आधार पर चलते हुए अपनी रुचि के साथ सादृश्य-सा रखनेवाले आलोचक के व्यक्तित्व प्रधान मत को स्वीकार कर प्रमाण रूप में मान लें, और न यही कि हम अपने को भिन्न भिन्न मतों के परिपोषक आलोचकों के पारस्परिक विरोध-वैषम्यवाले विचारों की जटिल-जालिका में ही उलझा रक्खें, वरन् हमारे लिए एक तीसरा मार्ग भी है जिसके आधार पर हम विरोधी आलोचकों के विचार-वैषम्य-पूर्ण मतों की उलझन को भी सुलझा सकते और एक सर्वमान्य, व्यापक तथा साधारण निर्णय प्राप्त कर सकते हैं। अनेक आलोचकों की विरोध-पूर्ण आलोचनाओं की तुलनात्मक गवेषणा करके निकाले गये एक सर्वनिष्ठ, व्यापक तथा सर्वमान्य निर्णय के सामने मत-पार्थक्य और व्यक्तित्व-प्राधान्य निर्बल या निरर्थक-सा ही हो जाता है।*

---

* किसी साहित्यिक रचना की महत्ता-सत्ता के परखने की कसौटी वास्तव में उसकी सर्वजनीनता, सर्वप्रियता, और व्यापकता के साथ ही साथ उसके स्थायित्व की मात्रा भी है। उसके गौरव और महत्त्व की परख वास्तव में उसकी उस सुदृढ़ता (Persistence) और सबलता से होती है जिसके ही द्वारा वह अपने रचना-काल से इस समय तक अपनी सत्ता को देश-समाज की परिवर्तनशील सभ्यता-संस्कृति के प्रवाह, रुचि आदि के पार्थक्य के समुद्भूत होनेवाले विचार-वैलक्षण्य, आचार्यों और आलोचकों के मत-वैभिन्य, साहित्य और भाषा की परिवर्तित प्रगति, तथा रचना-रीति-नीति की विविध शैलियों और मार्गों से चलनेवाली भिन्न भिन्न धाराओं आदि

किसी रचना की महत्ता वास्तव में तभी है जब वह भिन्न भिन्न मत, विचार आदिवाले आलोचकों के द्वारा लगभग समान रूप से प्रशंसित और पठनीय कही गई है, जिसकी प्रियता, सुन्दरता (रुचिरता और रोचकता) तथा समाकर्षकता सदैव, सर्वत्र, सबके लिए प्रायः एक-सी ही रहती है और उसमें किसी प्रकार की भी कभी कहीं कुछ बाधा नहीं आ पाती। इसी को साहित्योत्कृष्टता तथा कला-महत्ता कहा जाता है। कवि-कुल-कुमुद कलाधर भगवान् वाल्मीकि, वेदव्यास, कालिदास, सूर और तुलसी जैसे प्रातःस्मरणीय महापुरुषों की रचनायें इसी प्रकार की उत्कृष्टता और सर्वमान्य महत्ता रखती हैं। तात्पर्य यह है कि

के प्रखर प्रभाव से परिपूर्ण क्रान्ति में भी शान्ति के साथ सुरक्षित रख सकी है। जो रचना समान रूप से सभी समय और समाज में अपनी स्वाभाविक सुन्दरता, सुप्रियता, और सबलता के प्रभाव से सर्वप्रिय, व्यापक और सराहनीय रहती हुई चली आई है, और जिसका स्थान सर्वदा सर्व प्रकार एक ही-सा जाना-माना गया है, वही रचना वास्तव में महत्तामयी मानी जाती है।

सर्वप्रियता के साथ ही स्तुत्य स्थायित्व भी साहित्यिक रचना के मूल्य और स्थान का पक्का प्रमाण-पत्र है। रुचि, विचारादि के वैषम्य और समय-समाजादि के परिवर्तन-प्रभाव की क्रान्ति से सर्वथा अक्षुण्ण रहनेवाली स्थिर-स्तुत्यता तथा सबलता ही, जिसके कारण रचना सर्वमान्य और सदा सजीव (अमर) रहती है, उसके मूल्य-स्थान की सच्ची कसौटी है। ऐसी ही अमर रचनाओं से स्थायी (Classical) साहित्य का निर्माण होता है।

यदि रचना की रुचिरता और रोचकता में स्थायित्व है और वह सब के लिए सर्वत्र सर्वदा समानता के साथ सुखद तथा प्रिय होती है तो निस्संदेह वह श्लाघ्य और उच्च कोटि की है। जितने भी व्यक्ति उसे पढ़ते हैं सब पर उसका एक-सा प्रिय प्रभाव पड़ता है, चाहे वे अपने अपने समय, समाज, आचार-विचार (रीति-नीति), संस्कृति, साहित्य (भाव-भाषा) आदि के पार्थक्य से कितने ही प्रभावित और विलग क्यों न हों। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि रचना की लोक-प्रियता से यही तात्पर्य नहीं कि वह जनता को प्रिय और सुखद अथवा रुचिर तथा रोचक प्रतीत होती है वरन् इसका तात्पर्य यह भी है और मुख्यतया यही है कि वह सहृदय, साहित्य-रसिकों तथा सुपठित समाज के लिए भी सुन्दर, समाकर्षक और आनन्दप्रद है।

उत्कृष्ट रचनायें प्रायः साधारण जनता के द्वारा वास्तविक रूप से न समझो जाने के कारण—क्योंकि ये उत्कृष्ट भाषा, उन्नत तथा कला-कौशलपूर्ण विचित्र शैली में रहतीं तथा ज्ञान-गूढ़ता रखती हैं—नहीं सराही जातीं—और न प्रशंसित हो ही सकती हैं—किन्तु विद्वत्समाज में वे ही सुयश और समादर पाती हैं, इसी प्रकार बहुतेरी रचनायें साधारण जनता के लिए तो रुचिर-रोचक होतीं और इसी लिए उसके द्वारा चाही और सराही जाती हैं किन्तु विद्वत्समाज के लिए वे कुछ भो मूल्य नहीं रखतीं। सुयोग्य

समालोचक को अपनी आलोच्य रचना में प्रथम इसी विशेषता को देखना और विचारना चाहिए। जितनी ही अधिक सफलता उसे इस प्रकार के अनुमान करने में मिलेगी उतनी हो मूल्यवान् उसकी आलोचना सिद्ध होगी।

अस्तु, कह सकते हैं कि आलोचक को आलोच्य रचना में यह भी देखना आवश्यक है कि वह रचना कितने अधिक लोगों को कब तक, कहाँ तक और किस रूप से कितनी रुचिर और रोचक हो सकती या सकी है, अर्थात् उसमें लोकप्रियता, सुखदेनेवाली क्षमता और स्थायित्व प्राप्त करने की प्रतिभा कितनी है। जितनी ही अधिक शक्ति उसमें चिरजीवन के लिए होगी, जितनी ही वह स्थायी हो सकती होगी, उसका जीवन जितने ही अधिक समय तक लगातार सुख-शान्ति के साथ सुयश प्राप्त करता हुआ चल सकता होगा उतनी ही अधिक उसकी महत्ता-सत्ता होगी, और उतना ही ऊँचा उसका मूल्य और स्थान भी होगा।

प्रायः देखा जाता है कि रचनाओं और रचयिताओं को प्रथम बहुत यश और ख्याति का लाभ हो जाता है, उसका प्रचार-प्रस्तार भी ख़ूब हो जाता है और व्यापक रूप से उन्हें सर्वमान्य सफलता प्राप्त हो जाती है किन्तु यह सब होता अल्पकालीन ही है—उन्हें स्थायित्व नहीं प्राप्त होता, उनकी जीवन-लीला बहुत ही शीघ्र समाप्त हो जाती है, उनका यशोत्कर्ष और महत्त्व दीर्घजीवी नहीं हो पाता। प्रायः इसका कारण

यही होता है कि उन रचनाओं में तत्कालीन समय-समाज की रुचि का ही प्राधान्य रहता है, इसी के आधार पर वे रची ही जाती हैं, उनमें किसी विशेष समय की ही छाया रहती है, समाज की परिवर्तनशील और अस्थायी अवस्था का ही चित्रण किया जाता है जिससे उन्हें सामयिकता के प्रभाव से प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा तो मिल जाती है किन्तु जभी समय-समाज में परिवर्तन हुआ तभी उनका जीवन समाप्त हो जाता है और वे आगे नहीं ठहर पातीं। क्योंकि उनमें आगे आनेवाले समाज को आकर्षित करने, सुख देने और प्रसन्न करने की क्षमता ही नहीं रहती, उनमें मानवजीवन के उन रहस्यों, उसकी उन अवस्थाओं और अनुभूतियों का वह व्यंजना-पूर्ण चित्रण नहीं रहता जो सर्वथा स्वाभाविक, स्थायी और सब समय और समाज में समानता से व्यापक और सुन्दर-सुखद हैं।

कभी कभी किसी रचना को, उसके निर्माण-काल में, यथेष्ट मूल्य एवं स्थान नहीं दिया जाता, उसे यथोचित ख्याति और समादर भी नहीं प्राप्त होता किन्तु आगे चलकर उसी को महत्त्व मिलता है, क्योंकि वह रचना अपने निर्माण-कालीन समाज तथा परिस्थिति के अनुकूल नहीं रही वरन् परवर्ती समय-समाज के अनुकूल हुई। इसी प्रकार कोई कोई रचना थोड़े ही समय और समाज तक अपना महत्त्व दिखलाकर विलीन हो जाती है। कुछ रचनायें, जिनमें मानव-जीवन के सर्वकालीन स्वाभाविक मर्मों या अनुभूति-

व्यंजना-पूर्ण रहस्यों तथा प्रकृति के शाश्वत विश्वव्यापी सूक्ष्म तत्त्वों का चित्रण रहता है, स्थायी सुयश, मूल्य और स्थान प्राप्त कर अमर हो जाती हैं। वास्तव में ऐसी ही रचनायें श्लाघ्य होतीं और उनके रचयिता ही सफल और स्तुत्य माने जाते हैं। आलोचक को आलोच्य रचना को इस प्रकार देखना तथा समझना चाहिए जिससे वह ऐसे निर्णयों को पहुँच सके और रचना के जीवन (स्थायित्व) मूल्य, स्थान आदि की स्थिरता या अस्थिरता का ठीक ठीक अनुमान कर अपना विचार निश्चित कर सके। तात्पर्य यह है कि उसे आलोच्य रचना में उन विशेष गुणों को देखना चाहिए जिनके प्रभाव से वह लोक-रुचि-पार्थक्य, विचार-वैषम्य एवं समय-समाज-परिवर्तन आदि के प्रभावों की प्रखरता में भी ठहर सके और सर्वमान्य, व्यापक तथा स्थायी मूल्य और स्थान प्राप्त कर सके*।

---

* इसी को साहित्य में विकासवाद-प्रभाव कहते हैं, जिस प्रकार इस जीव-संसार में जीवन-संग्राम और जीवन-होड़ के नियमों का निरन्तर व्यापक प्रभाव देखा जाता है और जिस प्रकार जीवन-संग्राम में परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुकूल अपने को बनाने की क्षमता रखनेवाले प्राणी ठहर सकते हैं, ठीक उसी प्रकार साहित्य-क्षेत्र में भी विकासवाद के ये नियम चरितार्थ होते हुए देखे जाते हैं। कोई रचना अपनी तात्कालिक सफलता समय, समाज और परिस्थिति के अनुकूल होने की क्षमता के प्रभाव से प्राप्त कर लेती है अर्थात् अपने निर्माण-काल के समाज के अनुकूल होते हुए रुचिरता तथा रोचकता

ध्यान देने का विषय है कि विकासवाद का सिद्धान्त यहाँ साहित्य पर अचरितार्थ होता हुआ भी जान पड़ता है। कोई साहित्यिक रचना, समय-समाज की सभ्यता-संस्कृति, रीति-नीति, रुचि और विचार-धारा आदि में होनेवाले परिवर्तनों के प्रभावों को सहन करती हुई अबाध रूप से

की मात्रा के अनुसार ही प्रख्यात और प्रचलित होती है, लोक-रुचि के सानुकूल्य की क्षमता ही उसकी सफलता का कारण होती है, किन्तु यह सफलता प्रायः क्षणिक (अल्पकालीन) और एकदेशीय (स्थानीय) ही रहती है, और जब लोक-रुचि, विचार-धारा आदि बदल गई और समय-समाज तथा परिस्थितियों में परिवर्तन हो गया वह रचना व्यर्थ ही-सी हो गई। या तो वह फिर देखी ही नहीं जाती और यदि कहीं देखी भी जाती है तो उसकी उस समय की सफलता या ख्याति पर लोग आश्चर्य करते हैं। उस रचना की सफलता के कारण ही उसके जीवन-नाश के आधारभूत कारण बन जाते हैं।

लोक-रुचि, सभ्यता, संस्कृति, भाषा, साहित्य, भाव-भावनाओं या विचार-धारा के रूपान्तरों और समय-समाजादि के परिवर्तनों के होते हुए भी जो रचनायें समाज के जीवन-विकास के साथ सानुकूल्य रखने की क्षमता के प्रभाव से स्थिर रहती हैं, वे ही स्थायी और स्तुत्य होती हैं। उनमें अपने निर्माण-काल, स्थान एवं समाज की सानुकूल्य-क्षमता ही, जो उनकी अल्पकालीन सफलता और तत्पश्चात् परिवर्तन काल में विनाश का हेतु होती है, नहीं रहती, वरन् परिवर्तन-प्रभाव की सहन-शक्ति, स्वाभाविकता, स्थायी रुचिर-रोचकता, चिर-जीवन-प्रतिभा, शाश्वताकर्षकता और समान सुन्दरता रहती है, उनमें अपने समय-समाज के लिए एक विशेष संदेश रहता है। तथा समाज के

जीवित रहती है न केवल इसलिए कि वह अपने को समय-समाज तथा मानव-जीवन की नवीन विशेषताओं अथवा परिवर्तित या रूपान्तरित दशाओं के समानुकूल करने की क्षमता रखती है वरन् इसलिए कि वह प्रथम से ही इस प्रकार रची गई थी कि मानव-जीवन, तदनुभूतियों, तथा मानव-प्रकृति की उन दशाओं और अवस्थाओं के, जो समय-समाज तथा उनके परिवर्तनशील प्रभावों से सर्वथा परे और स्वतन्त्र रहती हैं और उनसे प्रभावित नहीं होतीं, समनुकूल रक्खी गई है, जो सर्वथा स्वाभाविक, सदा सत्य, तथा सर्वत्र एकरस रहती हुई व्यापक और सर्वसाधारण होती हैं। साथ ही उसमें स्थानीय और तात्कालिक बातें इस प्रकार चित्रित की जाती हैं कि वे व्यपाक, स्थायी और स्वाभाविक बातों से सर्वथा सम्बद्ध और समुद्भूत-सी ही जान पड़ती हैं। रचना को ऐसा बनाने में तीव्र तथा सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि, चतुर वस्तु-ग्रहण-क्षमता एवं संचयन-शक्ति तथा प्रकाम प्रतिभा ही काम दे सकती है।

रचना-वस्तु जितनी ही अधिक लोकव्यापिनी, स्वाभाविक

बाह्याभ्यंतरिक, चारित्रिक, धर्मिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक (बुद्ध्यात्मक, Intellectual) जीवन के लिए सार्थकता तथा उपयुक्तता रहती है। ये बातें उसकी सदैव एक-सी ही चली जाती हैं। उनकी आकर्षक प्रभावकारकता, आनन्दोत्पादकता तथा उत्तेजकता ही उनको दीर्घ जीवन देती है।

तथा स्थायी होती हुई सुरुचिपूर्ण और सौख्यप्रद होगी और जितना ही अधिक उसमें मानव-जीवन के सर्वसाधारण या व्यापक तत्त्वों—अनुभूतियों, रागों (मनोविकारों), सुखों, दुखों आदि—अथवा मूलभूत दशाओं का—जो सर्वदा, सर्वत्र एक रूप में रहती हैं—समावेश होगा, उतना ही अधिक उसे सफल चिरजीवन प्राप्त हो सकेगा और समय-समाज के परिवर्तन-प्रभावों से वह अबाध तथा विमुक्त रह सकेगी। समय-समाज के स्थानिक और तात्कालिक तत्त्व भी उसके मनोरम प्रतीत होंगे क्योंकि उनके अन्तस्तल में जीवन के परमावश्यक, व्यापक, स्वाभाविक, तथा स्थायी मर्म और प्रकृति के ध्रुव धर्म उपस्थित रहेंगे।

अस्तु आलोचक को किसी साहित्यिक रचना में इन्हीं बातों को प्रथम देखना चाहिए। इस प्रकार आलोचना करने के लिए आलोचक में सूक्ष्म तर्क बुद्धि के साथ ही साथ दिव्य दूरदर्शिता, मानव-प्रकृति-पटुता, कल्पना-कुशलता और जीवनानुभूति में स्वाभाविक सत्यता का होना नितांत अनिवार्य है। इन सब विशेषताओं को रखते हुए भी उसके लिए किसी वर्तमान रचना की ऐसी समालोचना करना यदि असाध्य नहीं तो दुस्साध्य अवश्यमेव होगा और रचना-जीवन की अनिश्चितता के ही समान उसकी आलोचना में भी अनिश्चितता या संदिग्धता किसी न किसी अंश में बनी ही रहेगी।

प्राचीन साहित्य के लिए अवश्यमेव उक्त सिद्धान्त उपादेय

ठहर सकता है किन्तु वर्तमान एवं भविष्यकालीन साहित्य के लिए नहीं, क्योंकि समय-समाज के परिवर्तनशील प्रवाह के परिणामों के पूर्व प्रदर्शन का साहस करना वास्तव में दुस्साहस-मात्र है। गो० तुलसीदास की रामायण के समान किसी वर्तमानकालीन रचना की ३०० वर्ष बाद क्या दशा होगी, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, हाँ, उसकी तत्कालीन दशा का कुछ अनुमान अवश्यमेव किया जा सकता है, किन्तु वह अनुमान निर्विकल्प और सर्वथा मान्य नहीं हो सकता। दूरदर्शिता के प्रभाव से आवश्यक तथा स्थायी लोक-रुचि के साथ अल्पकालीन (आकस्मिक या तात्कालिक) और साधारण रुचि की तुलना की जा सकती है, और इसी आधार पर किसी वर्तमान रचना की सामाजिक सफलता के साथ स्थिर रहनेवाली सफलता या रुचिर-रोचकता देखी जा सकती है।

प्राय: यह देखा गया है कि कोई रचना अपने समय में तो अतिप्रसिद्ध एवं प्रचलित हुई किन्तु आगे चलकर वही रचना उपेक्षणीय सिद्ध हुई, इसी प्रकार कोई रचना अपने समय में तो उपेक्षित रही किन्तु कुछ समय के पश्चात् वही लोक-व्यापी और स्तुत्य ठहरी। इन सबका कारण लोक-रुचि-परिवर्तन और विचार-धारा में रूपान्तर ही है। इससे यह भी कहा जा सकता है कि रचना की चिर-जीवन-क्षमता उसके मूल्य-स्थान की तुला है तो सही किन्तु एक-मात्र और

सर्वथा सत्य तुला नहीं है। यह अवश्य सही है कि जिस रचना में मानव-समाज और समय की स्थायी-प्रकृति तथा स्वाभाविक, स्थायी, आवश्यक और सर्वव्यापी प्रकृति, रुचि, तथा विचार-धारा का प्राधान्य रहेगा वह अवश्यमेव अन्य उन रचनाओं की अपेक्षा, जिनमें किसी विशेष समय तथा समाज की रुचि आदि को प्रधानता दी गई है, अधिक प्रचलित, प्रसिद्ध तथा जीवित रहेगी और समय-समाज के परिवर्तन-प्रवाहों को सहन कर उत्कृष्ट और खरी ठहरेगी।

इससे यह न समझना चाहिए कि किसी रचना में उसके समय तथा समाज का प्रतिबिम्ब ही न होना चाहिए, प्रत्येक व्यक्ति अपने समय और समाज का ही एक मनुष्य है, वह उनसे या उनके प्रभावों से पूर्णतया अलग या स्वतन्त्र नहीं रह सकता, उसकी सत्ता या महत्ता इनकी ही सत्ता एवं महत्ता से है, अस्तु उसके लिए इनके प्रभावों को दूर रखना सर्वथा असाध्य नहीं तो दुस्साध्य अवश्य है। ऐसी दशा में उसका कर्तव्य यही है कि वह अपने समय एवं समाज को इस प्रकार अपनी रचना में स्थान दे कि वह स्वाभाविक तथा स्थायी रुचि, प्रकृति और विचार-धारा के ही अन्तर्गत रहे, और दोनों में व्याप्य-व्यापक अथवा अन्योन्याश्रय सम्बन्ध-सा रहे, दोनों सहगामी होकर चलें। ऐसा करने से ही उसकी रचना को उत्कृष्टता और चिर-जीवन-क्षमता प्राप्त हो सकेगी।

वह रचना या साहित्य, जो हमारे जीवन, समय और समाज से उद्भुत होता है, जो हमारी अवस्थाओं एवं परिस्थितियों से सर्वथा प्रभावित रहता है और जिसमें हमारे देश-काल की बातें चित्रित की जाती हैं, हमारे लिए प्राचोन साहित्य की अपेक्षा कुछ दूसरे ही प्रकार की रुचिर रोचकता रखता है—क्योंकि उसका सीधा-सीधा सम्बन्ध हमारे प्रत्यक्ष जीवन से ही रहता है। हमें अपने देश-काल के चित्रों के लिए विशेष उत्सुकता रहती है। किन्तु साथ ही हम प्राचीन बातों या विचारों आदि की भी जिज्ञासा रखते हैं और इससे हमें लाभ भी होता है। इसलिए हमें अपने प्राचीन तथा अर्वाचीन दोनों प्रकार की साहित्यिक रचनाओं का अध्ययन करना चाहिए। दोनों प्रकार की रचनाओं को तुलनात्मक दृष्टि से देखकर हमें उनकी विशेषताओं (जो देश-कालादि के परिवर्तन-प्रभाव को प्रकट करती हैं और समाज की रुचि-प्रवृत्ति आदि की सूचना देतो हैं) पर ध्यान देना चाहिए।

प्राचीन रचनाओं को सध्यान देखने से हमें साहित्यिक महत्ता एवं रचना-कला-कौशल के विविध रूपों या विधानों का परिचय प्राप्त हो सकता है। उन रचनाओं में से सर्वोत्तम एवं उत्कृष्ट रचना को हम अपना आदर्श मापक मान सकते हैं और उसी के आधार पर आधुनिक रचनाओं की आलोचना कर सकते हैं। इससे यह तात्पर्य नहीं कि हम इस प्रकार आलोचना को नितान्त आदर्शात्मक और तुलनात्मक ही

बना दें और उसे प्राचीन रचनाओं से निकाले हुए रचना-सिद्धान्तों पर ही सर्वथा आधारित रक्खें, और इस प्रकार की आलोचना से मौलिकता, नवीन विशेषता तथा नवोद्भूत शैली आदि के स्रोत को रोक दें। प्राचीन रचनाओं को नमूनों की भाँति लेकर हमें नवीन रचनाओं को देखना-दिखाना चाहिए। मौलिकता तथा नवीन विशेषता को उचित रूप से समादर करते हुए उन्हें प्रोत्साहन देना चाहिए।

आलोचक को सदैव अपने सतर्क तथा निष्पक्ष मन को बचाना चाहिए इस विचार से कि रचना-कौशल की इतिश्री प्राचीन रचयिताओं के द्वारा प्राचीन रचनाओं में ही कर दी गई है। अब आगे उसमें कुछ भी श्री-वृद्धि नहीं हो सकती, अतएव न तो अब कोई स्तुत्य रचना एवं रचयिता ही है और न हो ही सकती या सकता है। साथ ही उसे अपने को जनता की अविवेकावेशपूर्ण वाहवाही तथा अनधिकारी आलोचकों या लोगों की की हुई प्रशंसा से प्रभावित भी न होने देना चाहिए, हाँ आधुनिक रचनाओं के सम्बन्ध में प्रकट किये गये उपयुक्त तथा न्याय-संगत विचारों की उपेक्षा भी न करनी चाहिए, यदि वे सुयोग्य विद्वानों के द्वारा प्रकट किये गये हैं।

प्राचीन उत्कृष्ट रचनाओं को समालोचनाधार बनाने से तात्पर्य केवल यही है कि उन्हें हम नमूनों के समान अपने

सामने रक्खें क्योंकि उनके गुण सर्वमान्य और स्थिर हो चुके हैं और उन्हीं गुणों के कारण उन रचनाओं को चिरस्थैर्य, गौरव और यश मिला है। अतः उन गुणों के आधार पर रचना के स्वाभाविक तथा स्थिर सौंदर्यकारी सिद्धान्त निकाले जाकर उपयोग में लाये जा सकते हैं और उनके द्वारा आधुनिक रचनाओं की आलोचना करते हुए उनके विकास में न्यूनाधिकता देखी-दिखाई जा सकती है। मौलिकता और नवीन विशेषता का देखना तो अनिवार्यरूपेण समापेक्षित ही है। अतएव प्राचीन और अर्वाचीन दोनों प्रकार की रचनाओं का तुलनात्मक और आलोचनात्मक अध्ययन सर्वथा उपयुक्तोपादेय है।

इसी लिए प्राचीन सत्साहित्यावलोकन तथा तत्परिचय प्रत्येक आलोचक के लिए अनिवार्य माना गया है, क्योंकि इसके ही आधार पर वह साहित्यिक रचनाओं के वास्तविक गुणों को यथेष्टरूप से चाह और सराह करेगा। सुन्दर और उत्कृष्ट साहित्य के पठन-परिचय से सुरुचि, सुप्रवृत्ति आदि में जाग्रति आती है और सद्भावना को स्फूर्ति प्राप्त होती है, जिसके कारण रुचिरता और रोचकता, यथार्थरूप से देखी जा सकती है—चाहे वे कहीं भी हों, किसी भी रूप में हों और कैसे ही नये रंग-ढंग में हों। सद्भावना और सुरुचि के संस्कृत होने ही से रचना का चारुचमत्कार देखते हुए सहानुभूति के साथ सत्सराहना से साहित्यिक रचना का निर्णय किया जा सकता है।

इस प्रकार संक्षेप रूप से रचना-मूल्य-निर्धारण तथा रचयिता के स्थान-निश्चितीकरण पर प्रकाश डालकर हम निष्कर्ष रूप से कह सकते हैं कि साहित्य और रचना-कला के क्षेत्र से आलोचकों के आलोचना-रुचि-पार्थक्य को हम दूर नहीं कर सकते—यही कतिपय मतों, सिद्धान्तों और शैलियों आदि के प्रचार का मूल कारण है और आलोचना के विविध रूपों (आकारों-प्रकारों) और विचारों का आधार है, यद्यपि सत्समालोचना का उद्देश्य साहित्य और रचना-कला को रुचि-पार्थक्य के झगड़ों से विमुक्त करना ही माना जाता है।

अस्तु व्यक्तित्व और रुचि-वैलक्षण्य को किसी भी प्रकार दूर नहीं किया जा सकता, अतएव कोई रचना जैसी वह वस्तुतः है वैसी ही देखी भी नहीं जा सकती, याथातथ्यवाद (यथा स्यात् तथावलोकन) केवल वाद-विवाद का एक आधार है। प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक वस्तु को अपनी ही आँखों से देखता, अपने ही कानों से सुनता तथा अपने ही मन-मस्तिष्क से समझता-समझाता है, और इन सब पर उसके देश-काल, परिस्थिति (समय-समाज) सभ्यता, संस्कृति, साहित्य आदि का पूरा पूरा प्रभाव प्रगाढ़ रूप से ऐसा पड़ा रहता है कि वह दूर नहीं किया जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि, प्रवृत्ति, तथा प्रकृति पूर्णतया पृथक् ही रखता है, इनको वह अन्यथा या दूसरा नहीं कर सकता, हाँ

इनमें वह कुछ परिमार्जन या परिष्कार अवश्यमेव कर सकता है।

यह हो सकता है कि पक्षपातान्धकार दूर कर दिया जाये, व्यक्तित्व को कुछ अंश तक अलग कर दिया जाये और सहानुभूति के द्वारा रुचि-वैलक्षण्य में सुधार कर लिया जाये, किन्तु फिर भी इनका निराकरण नहीं किया जा सकता। व्यक्तित्व से ही साहित्य की उत्पत्ति है और उसी में उसका लय है। हाँ साहित्य व्यक्तित्व की अनेक रूपता को अनेक रूपता से चित्रित करता हुआ लोकव्यापी होने का प्रयत्न करता है। अनुभूति-व्यंजना के द्वारा वह मानव-सहानुभूति, भावनाओं तथा मनोवृत्तियों को जाग्रत करता है और कल्पना को स्फूर्ति देता है। इसी लिए इनके परिवर्तित रूपों से वह स्वतः प्रभावित होता हुआ दूसरों को भी प्रभावित करता है। एक का रूपान्तर दूसरे में रूपान्तर लाने और उसके प्रकट करने में सर्वथा समर्थ होता है। समाज, व्यक्तित्व और साहित्य में ऐसा गहरा अन्योन्याश्रय सम्बन्ध ही है।

अस्तु, जब व्यक्तित्व को साहित्य से पृथक् ही नहीं किया जा सकता तब समालोचना से वह कैसे दूर किया जा सकेगा, यह एक चिंत्य विषय है। इसी लिए रुचि-पार्थक्य और विचार-वैलक्षण्य स्वाभाविक से ही ठहरते हैं। इससे यदि किसी प्रकार की हानि है तो साहित्य-विकास या वृद्धि का लाभ भी है। यह आवश्यक है कि रुचि, प्रवृत्ति और

प्रकृति के साथ ही साथ विचार-धारा को संस्कृत, परिमार्जित और परिष्कृत किया जाये और निर्णय को सर्वथा नियंत्रित और शिष्ट रक्खा जाये। तथास्तु।

नभ, ग्रह, रस, शशि विक्रमी, संवत्, आश्विन मास।
विजयादशमी मैं कियो, ग्रंथ 'रसाल' प्रकास॥
